निवेदन।

हमारी भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभाका २६ वां वार्षिक अधिवेशन वीर सं० २४४८ (ई० सन् १९२२) में लखनऊमें श्रीमान् विद्यावारिधि दर्शनदिवाकर बेरिस्टर चंपतरायजीके सभापतित्वमें अतीव उत्साह व समारोहके साथ वसंतपंचमीके रथोत्सवके मौकेपर हुआ था तब श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर ब्र० सीतलप्रसादजीकी प्रेरणासे, लखनऊके धर्मपरायण दि० जैन समाजने उस समय एक जैन साहित्यसभा करनेका व उसमें हमारे विद्वानोंके इस ग्रन्थमें वर्णित दो विषयोंपर इनामी लेख मंगाकर उत्तम लेखकोंको २००)का इनाम देनेकी योजना की थी जिससे षड् द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि पर तीन तथा जैन साहित्यके महत्वपर तीन ऐसे ६ लेख प्राप्त हुए थे जो वहांकी सभामें पढ़े गये थे तथा जिसकी परीक्षा श्रीमान् विद्वद्वर्य पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य (मोरेना) द्वारा हुई थी, वे सब लेख पूज्य ब्र० सीतलप्रसादजीकी सूचनानुसार हमने हमारे "दिगंबर जैन" मासिक पत्रमें क्रमशः प्रकट कर दिये थे तथा इनको पुस्तकाकार भी प्रकट करनेकी चारों ओरसे हमें सूचनायें मिली थीं इसलिये उन लेखोंका यह संग्रहीत ग्रन्थ प्रकट किया जाता है। आशा है कि इसके प्रकाशनसे षड् द्रव्य व जैन साहित्यके विषयमें विशेष प्रकाश पड़ेगा तथा विद्यार्थियोंके लिये तो ये निबंध बहुत ही लाभदायक होंगे।

दि० जैन समाजके अद्वितीय विद्वान् श्रीमान् पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य (वर्तमानमें प्रधानाध्यापक, जंबू विद्यालय–सहारनपुर) ने इस ग्रंथपर विस्तृत प्रस्तावना भी लिख दी है (जो "दिगम्बर जैन" वर्ष १६ अंक ६ में भी प्रकट होचुकी है) जिसके लिये आपके हम बड़े आभारी हैं।

कागजकी अतीव महंगीके समयमें यह ग्रन्थ 'दिगंबर जैन' के साथ २ छपता गया था इसलिये इसमें कागज हलके लगाये गये हैं जो हमें भी खटकता है। तथा अनेक कारणोंसे इसका प्रकाशन भी अतीव देरीसे होसका है इसके लिये पाठक हमें उलाहना न देंगे ऐसी उम्मेद है।

सूरत।
वीर सं० २४५३
आषाढ़ सुदी ११

निवेदक–
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक।

जैन साहित्यसभा-लखनऊके प्रकट हुए लेखोंपर श्रीमान् जैनतर्करत्न-
पं० माणिकचंदजी न्यायाचार्य मोरेना द्वारा लिखित-

प्रस्तावना।

प्रिय महानुभावों !

पहिले इसके कि मैं **छह द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि** तथा **जैन साहित्यकी महत्ता**का दिग्दर्शन आपको कराऊं यह बतला देना उचित समझता हूं कि वन्दनीय ब्र० शीतलप्रसादजी व लखनऊ जनताका लेख लिखानेका कार्य कितना प्रशंसनीय है। भारतमें लेख लिखकर राजा सेठ या पब्लिकमें भेजनेकी प्रथा कुछ नवीन नहीं है लेकिन यह प्रथा जितनी पहिले प्रतिष्ठाप्राप्त थी उतनी इस समय नहीं देखी जाती, चाहे तो इसमें लेखकोंका आलस्य ही कारण हो या राजा व सेठोंकी सुननेमें अप्रियता, लेकिन मेरी धारणा तो यह है कि इस विषयमें कुछ कुछ दोनों ही तरफसे त्रुटि की गई है।

कुछ ही समय पहिले राजा भोज, बादशाह अकबरकी सभामें **यति हीराविजय, पं० कालिदास** प्रभृति कितने ही विद्वान् प्रतिदिन शिक्षा पूर्ण नवीन२ श्लोक बनाकर लेजाते थे इसके उपलक्षमें बादशाह भी उन्हें बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते थे तथा उनके उत्साह वर्धनार्थ बहुतसा इनाम भी देते थे। सब शिक्षित समाजको यह विदित होगा कि **राजा भोज**की सभामें कितने ही विद्वान् रहते थे। एक विद्वान् प्रतिदिन राजाके यहां नवीन २ श्लोक बनाकर लाया करते थे लेकिन महाराज भोजकी सभामें इतने बुद्धिशाली आदमी थे कि वे जिस श्लोकको एकवार सुन लेते थे वह उन्हें कण्ठाग्र हो जाता था, दूसरे दो दफे तीन दफे आदि सुनने मात्रसे उसकी पूर्ण धारणा रख लेते थे अतः प्रतिदिन नवीन पण्डित महाशय जो नवीन२ श्लोक बनाकर लाते थे सभाके स्थायी अन्य पण्डित उसे उसी समय राजाको सुनाकर कहते थे कि महाराज, यह प्राचीन श्लोक है नवीन नहीं ! एक दिन उन नवीन पण्डितने इस भावपूर्ण श्लोक बनाया कि महाराजके पितामहसे मेरे पिताको इनाम दिया गया एक लक्ष रुपया महाराजके खजानेमें जमा है। इस प्रकारके नवीन श्लोकको सुनकर अन्य सभी पण्डित बहुत पशोपेशमें पड़े कि इनके इस श्लोकको प्राचीन ही बताना चाहिये या नवीन। नवीन बतलानेसे तो नवीन श्लोकके बनानेके कारण इनको एक लक्ष रुपया इनामका मिल ही जायगा, और प्राचीन बतानेसे भी यह बात प्रमाणित हो जायगी कि इनका एक लक्ष रुपया राजकोषमें जमा है, इत्यादि कथाओंके सुननेसे यह विदित होता है कि पहिले श्लोक आदि लिखकर राजसभामें सुनानेका बहुत प्रचार था। अब भी कुछ न्यूनताको लिए हुए यह प्रथा सजीवित है।

अमेरिका जर्मन आदि दूर देशोंमें नवीन लेख भेजनेकी प्रथा अब भी पायी जाती है और तत्रत्य विद्वान् उन लेखोंको देखकर नौबिल प्राइज, पी० एच० डी० आदिकी पदवियोंसे अलंकित करके सन्मानित करते थे।

पूर्वमें आचार्यों बड़े २ विद्वानोंको **वादीभसिंह, पूज्यपाद** आदि पदवियां वितरित करके उनका गौरव बढ़ाया जाता था, उस पूर्व प्रथाका कुछ अनुकरण करते हुए ब्र० शीतलप्रसादजी तथा **लखनऊकी जनताने** षट् द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि, तथा जैन साहित्यका महत्व इन दो विषयोंपर लेख लिखकर जैन साहित्य सभा लखनऊमें भेजनेकी सूचना "जैनमित्र" आदिमें प्रकाशित की थी।

उक्त दो निबन्धोंपर भिन्न २ स्थानीय विद्वानोंके ६ लेख आये जो कि "दिगंबर जैन" मासिक पत्रमें क्रमशः छप चुके हैं और पुस्तक रूपमें भी छपाये गये हैं। पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व लखनऊ जनताको उक्त दो निबन्धोंपर लेख लिखवाकर न सिर्फ उन विषयोंको उन्नत करनेका यशोलाभ हुआ है बल्कि विद्वानोंका गौरव बढ़ाकर जैन समाजमें भी अन्य समाजोंकी तरह लेख लिखनेकी प्रथा या यों कहिये कि प्राचीन प्रथाका जीर्णोद्वार किया है।

जैन समाजमें इस प्रथाका अभाव कुछ अधिक दिन पहिलेसे ज्ञात होता है नहीं तो इतने अधिक विद्वानोंकी उपस्थितिमें इन महत्वपूर्ण विषयोंपर केवल छह ही लेख न आते। इसमें हम सर्वथा लेखकोंका ही प्रमाद नहीं कहते बल्कि कुछ समाजके नेताओंका भी है। मुझे आशा है कि अबसे ऐसे शास्त्रीय निबन्धों पर यदि समाजकी दृष्टि रहेगी तो पुनः लेख लिखाये जानेपर ६की संख्यासे कहीं बहुत अधिक संख्यामें विद्वानोंके लेख आसकेंगे और उपाधि आदि देनेकी पूर्व प्रथाका भी समाजने यदि अनुकरण किया तो इस कार्यका बहुत महत्व हो जायगा और उस समय न सिर्फ जैन विद्वान ही बल्कि निष्पक्षपाती अन्य जातीय विद्वान् भी इन विषयोंपर निबन्ध लिखेंगे और इस तरह जैन धर्मका एक सुलभ रीतिसे दूर २ प्रदेशोंमें प्रचार हो जायगा, हमारी समझमें इस कार्यका पूर्ण प्रशंसालाभ ब्रह्मचारी शीतलप्रशादजी व लखनऊकी जैन जनताको है। आशा है कि अगाड़ी भी इस प्रथाका अनुकरण किया जायगा।

*　　*　　*

सज्जनो ! **षट्द्रव्यकी आवश्यकताके** विषयमें तीन लेख समुपलब्ध हुए हैं और उन लेखोंसे पूर्णतः यह बात स्पष्ट हो गई है कि द्रव्य छह ही हैं न सात और न पांच, द्रव्यकी संख्या ६ ही है। इस विषयमें विशेष कुछ कहना नहीं है क्योंकि अन्य मत कल्पित द्रव्य व पदार्थोंकी संख्या इन्हीं ६में अन्तर्भूत हो जाती है। यहां द्रव्य पदार्थ

इनका पृथक् २ उल्लेख इसलिए किया है कि वैशेषिक द्रव्यकी संख्या ९ और पदार्थकी संख्या ७ मानता है। पदार्थ इस शब्दका तात्पर्य उन्होंने इस प्रकार माना है—पदस्य अर्थः पदार्थः। यहां षष्ठीका अर्थ निरूपित है। ऋ धातुका अर्थ ज्ञान और थन् प्रत्ययका अर्थ विषयत्व है। इस प्रकार पद निरूपित ज्ञान विषयत्व ही पदार्थका तात्पर्य माना है। यहां जो ऐसी शंका करते हैं कि पदार्थका अर्थ जब पद निरूपित ज्ञान विषयत्व है तब ही खर विषाण भी पदार्थ कोटिमें आना चाहिये क्योंकि यह निरूपित ज्ञानविषयता तो इसकी भी होती है। इसका समाधान वे इस प्रकार करते हैं। हां खरविषाण भी पदार्थ है लेकिन वह अत्यन्ताभाव पदार्थमें सम्मिलित है। अस्तु, यहां इस परवाहकी आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार द्रव्यकी संख्या ६से अधिक सात नहीं हो सकती उसी प्रकार ६से कम ५ भी नहीं हो सकती है। द्रव्यकी जीव, अजीव रूप दोकी संख्या जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालका सूक्ष्म रूपान्तर है क्योंकि जीवसे भिन्न पुद्गलादि ५ का अजीवमें अन्तर्भाव है।

जीव व पुद्गलकी सत्ता हमें प्रत्यक्षतः विदित हो रही है, बाकीकी ४ द्रव्य यानी धर्म, अधर्म, आकाश, कालकी सत्ताका अवधारण अनुमानादि प्रमाणोंसे होता है। ६ छहों द्रव्योंका कार्य हम अपने शरीरमें भलीभांति देखते हैं।

जीवका ज्ञानगुण तथा पुद्गलका रूपादि सजीव शरीरमें दिखलाई देता ही है। धर्म द्रव्यका जीव पुद्गलोंके गमन होनेमें सहकारी रूप जो कार्य है वह रक्तादिके गमनमें सहकारी होनेसे अच्छी तरह प्रमाणित होता है एवं अधर्म द्रव्यकी जो उक्त दो द्रव्योंके स्थिर होनेमें सहकारिता है वह भी शरीरमें पायी ही जाती है क्योंकि सजीव शरीरमें रक्तादिका निरन्तर चलते रहना जैसे उपयुक्त है उसी प्रकार शरीरके कुछ ऐसे अवयव भी हैं जो कि शरीरमें स्थिर ही रहते हैं और उनके चलित होनेसे आदमीकी मृत्यु हो जाती है अतः अधर्म द्रव्यका कार्य भी शरीरमें बराबर देखा जाता है। आकाशका अवगाह देना जो कार्य है वह भी शरीरमें सुस्पष्ट ही है, कांटे, तिनके, कांच, खानेपीने आदिकी कितनी ही चीजें हैं जिनको कि शरीर अवगाह देता है। कालका कार्य वर्तना भी आप अच्छी तरह शरीरमें पावेंगे क्योंकि भोजनादिकी वर्तना या परिणमन निरन्तर शरीरमें होता ही रहता है, इस प्रकार छहों द्रव्योंका कार्य शरीरके अन्दर देखनेमें आता है।

साहित्यके विषयमें यही कहना है कि सर्वतः श्रेष्ठ साहित्य वही है जो आत्माको अन्तमें वैराग्यकी तरफ उन्मुख करे। पहिले जमानेमें यति, साधु मंत्रोंसे स्तुति करते थे। उन मंत्रोंमें जो शक्ति है वह संस्कृत साहित्यमें नहीं है। मंत्रका शुद्ध उच्चारण

करना बहुत कठिन है। ह्रस्व उदात्त अनुदात्त आदि सब प्रकारका ख्याल करके उच्चारित जो मंत्र है वही अपना कार्य पूर्णतः सिद्ध करता है क्योंकि "नहि मंत्रेऽक्षरं न्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्" मंत्रके शुद्ध उच्चारण न करनेसे न केवल आदमी अपने साध्यसे भ्रष्ट ही होता है किंतु अपना अनिष्ट भी कर लेता है।

इस प्रकार मन्त्रके उच्चारण तथा साधनाकी कृपतासे बचनेके कारण संस्कृत साहित्यका प्रचार हुआ। संस्कृत साहित्यमें भी भांति २ की असुविधायें देखकर साधारण जनताके आनन्दार्थ **हिन्दी साहित्य**का आरम्भ हुआ। जिन मन्त्रोंको शुद्धाशुद्धका विचार रखते हुए हम केवल एक घंटे बोल सकते हैं। यदि उसके स्थानमें संस्कृतकी कोई गद्य या पद्य हो तो हम ३ घंटे बोलकर हम थक जाते हैं उतनी ही हिन्दीकी गद्य या पद्य हम बराबर ६ घंटे बोल सकते हैं। गाना तो और भी अधिक समय तक गा सकते हैं। आप देखेंगे कि हिन्दी गायक बराबर आठ २ दश २ घंटे एक जगह बैठकर अच्छी तरह गा सकते हैं। यदि गायकसे संस्कृतके बारेमें कहा जाय कि तुम ४ घंटे बराबर बैठकर गाओ तो वह किसी हालतमें नहीं गा सकता क्योंकि हिन्दीकी अपेक्षा संस्कृतका उच्चारण बहुत परिश्रम युक्त है और मन्त्रका उच्चारण उससे भी बहुत कुछ परिश्रमपूर्ण है।

इससे विदित होता है कि मंत्रके साहित्यमें अड़चन देखकर ही संस्कृत साहित्य और जो स्व स्वल्पशक्तिके कारण संस्कृत साहित्यसे लाभ नहीं उठा सकते उनके लिए हिंदी साहित्यका निर्माण किया गया है।

बहुतसे महाशय काव्यके ग्रन्थोंको ही साहित्यकोटिमें परिगणित करते हैं लेकिन यह उनकी भूल है। बहुतसे सिद्धांत न्यायके ग्रंथ भी पूर्णतः साहित्यकी उन्नतिके परिदर्शक हैं। साहित्यका कार्य मनोरञ्जन करना है और यह मैं पहिले ही कह चुका हूं कि श्रेष्ट साहित्य ग्रंथ वही कहा जा सकता है जो संसारकी अवस्थाका दर्शन कराकर अंतमें मोक्षके लिए आत्माके परिणामोंको ऋजु करे। साहित्य आत्माका एक रस है यानी श्रेष्ठ साहित्यको पाकर आत्मा अपने भूले हुए स्वरूपको पुनः प्राप्त कर लेती हैं। **सिद्धांत**का ग्रन्थ गोमट्टसार साहित्यसे खाली नहीं है उसी प्रकार **न्याय**का ग्रन्थ अष्टसहस्री भी साहित्योन्नत ग्रंथोंमें एक प्रधान ग्रंथ है अष्टसहस्री पढ़े हुए महाशय इस बातको भली भांति जानते होंगे कि अष्टसहस्रीके कर्ता महोदयने ३६३ मतोंका किस खूबीसे खण्डन किया है। अष्टसहस्री पढ़कर जीव अपनी आत्माका स्वरूप भली भांति जान लेता है जो कि साहित्यका आनय कार्य है। अष्टसहस्रीके कर्ताने स्वयं लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥

अर्थात् अष्टमी सहस्रीके पढ़ लेनेपर अन्य सेकड़ों ग्रंथोंके पढ़नेसे क्या लाभ है यानी कुछ भी लाभ नहीं है इसीके श्रवणसे स्व तथा पर समय (शास्त्र) अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार स्वयंभूस्तोत्र, समयसार आदि ग्रंथ भी साहित्योन्नतिके अच्छे दर्शक हैं। समयसारके कर्त्ताने आत्माकी अद्वैत सिद्धिमें जो आत्मात्मनंमात्मनात्मनेऽऽत्मनरात्मनि चेतयते–यह षकारक लगाये हैं। यह भी उच्चकोटिका साहित्य ही है क्योंकि यही आत्माके प्रत्यक्ष करनेका उपाय है।

तुलसीदासजी कृत रामायण जो कि साहित्योन्नतिका एक निदर्शक कहा जाता है उससे आप टोडरमलजी कृत गोमट्टसारकी हिन्दी टीकाका मिलान करें तो आपको भलीभांति विदित हो जायगा कि यह कहीं उससे बढ़कर साहित्योन्नतिका उदाहरण है। साहित्य लालित्यके साथ ही आप इसके अंदर एक और विशेषता पावेंगे वह यह कि कितने कठिन प्रमेयको पंडितजीने प्रसादगुणयुक्त हिंदी गद्यमें सरल कर दिया है।

महापुराण, पार्श्वाभ्युदय, सप्तभङ्गतरिङ्गिणी आदि कितने ही अन्य ग्रंथ भी साहित्यकी उच्चताको लिए हुए सिद्धांत न्याय विषयके अच्छे प्रतिपादक हैं।

जैन साहित्यके उन्नत होनेमें दूसरा यह भी कारण है कि जितनी वर्ण संख्या दूसरोंके यहां मानी गयी है वह परिपूर्ण नहीं। पाणिनीयने ४३ इङ्गलिश भाषामें २६ किन्हीने ३२ इत्यादि वर्ण संख्या मानी है। जैनेन्द्र व्याकरणमें ४६ वर्ण माने गये हैं। द्वादशाङ्गमें तो ६४ वर्ण माने गये हैं इससे भी जैन साहित्यकी पूर्णता ज्ञात होती है।

किसीभी बातको वक्रोक्ति आदिके रूपमें कहनेसे ही उसकी शोभा होजाती है क्योंकि "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" उदाहरणके लिए लीजिए कि स्त्रीको अपने पतिसे यह कहना था कि आप यहांसे चले जावेंगे तो मैं मर जाऊंगी इस बातको उसने वक्रोक्तिके द्वारा कहकर सरस पद्य बना दिया–

> गच्छ गच्छ सिचेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
> ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥

अर्थात् हे कान्त! यदि तुम जाते हो तो जाओ, तुम्हारे कल्याणकारी मार्ग हों लेकिन यह अवश्य ज्ञात रहे कि मेरा जन्म भी वहीं होगा जहां कि आप उपस्थित होंगे। यह एक साधारण बात ही वक्रोक्तिसे कहनेपर लोगोंकी प्रीतिके लिए होजाती है। हम साधारण रीतिसे किसीसे पूछेंगे कि आप कहांसे आये हैं और कहां जावेंगे तो इस तरहका हमारा पूछना सीधी भाषामें उतना अच्छा न मालूम होगा जितना कि साहित्यसे अलङ्कृत करने पर ज्ञात होगा यानी वह कोनसे मनुष्य हैं जिनकी कि मुखकमल श्री आपचन्द्रोयमके यहां

आनेसे फीकी पड़ गई है और वे कौनसे पुण्यशाली हैं जो सूर्योदयसे चक्रवाकके समान आपके आगमनसे अपनेको कृतार्थ समझेंगे इत्यादि।

उक्त बातोंसे यह भलीभांति विदीत होता है कि जिससे मनोरञ्जन हो वही साहित्य कहलाता है। पूर्वमें न्याय साहित्य आदिके ग्रन्थ बनाकर पहिले विद्वद्गोष्ठीमें पास करालिये जाते थे और पुनः उसे पब्लिकके प्रचारार्थ देते थे। ऐसा करनेसे सभी ग्रन्थ जो कि पब्लिकके प्रचारमें आते थे अपनी महत्ता और गुरुतासे प्रतिष्ठित रहते थे।

पं० श्रीहर्ष नैषधचारित्रको बनाकर प्रथम कवि मम्मठके पास ले गये थे। पाणनीय अष्टाध्यायीको बनाकर विश्वामित्र ऋषिके पास ले गये थे। उन्होंने जब पूछा कि विश्वामित्र शब्दकी सिद्धि किस प्रकारकी है तब उन्होंने कहा कि महाराज इसके लिए "मित्रे चर्षौ" यह स्वतन्त्र सूत्र बनाया है। यहां सूत्रमें ऋषि शब्द देनेसे माणवक वाची शब्द विश्वामित्र ही रह जाता है अतः यह इसी नामके लिए खास सूत्र है इसपर मुनि बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार व्याकरणकी परिपूर्णता जानकर उस व्याकरणको पास कर दिया।

पूर्व मैं कह चुका हूं कि पब्लिक प्रचारार्थ जो ग्रन्थ दिये जाते थे वे पूर्वतः ही अच्छी तरह परीक्षित करलिए जाते थे और ऐसा करनेसे वे पास ग्रन्थ आदमीके नैतिक बल-चारित्र आदिके विषयमें सुशिक्षा देनेके लिए होते थे। आजकल कितनी ही ऐसी भद्दी पुस्तकें हम लोंगोकी दृष्टिगत होती हैं जो बच्चों युवकादिकोंके चारित्रपर बहुत बुरा प्रभाव डालती है अतः हम इस प्रकारकी पुस्तकोंको कभी श्रेष्ठ साहित्यकी गणनामें नहीं गिन सकते क्योंकि श्रेष्ठ साहित्यका जो आत्माको शान्ति मार्ग लाना लक्षण है वह उनमें नहीं घटता।

इन सब बातोंसे विदित होता है कि **साहित्य एक आत्माका रस है** जिसके पढ़नेसे आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोंकी तरफ उन्मुख हो वही श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य ग्रंथोंमें भी जहां ९ रसोंका वर्णन किया है वहां भी सर्वतः उपरि शान्तिरसको ही बताया है क्योंकि पथिक जिस तरह सब जगह घूम आता है लेकिन अन्तमें अपने घरपर ही आजाता है उसी प्रकार साहित्य भी आत्माको जगह २ घुमाकर अन्तमें आत्माका स्वरूप जो शान्ति है उसकी ही तरफ उन्मुख करता है। आत्मा औपाधिक वृत्तिका आचरण बहुत समय तक नहीं कर सकता लेकिन स्वाभाविक जो वृत्ति है उसके हमेशा धारण करे रखनेमें भी उसे किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती है।

उदाहरणके लिए लीजिए कि मनुष्यके शरीरको अपने अवयव जैसे व ल हस्तादिका वजन कुछ वजन रूपसे प्रतीत नहीं होता और यदि उसके सिरपर १० सेरकी ही एक गठडी रख दी जाय तो वही उसे भाररूप मालूम पडने लगती हैं। दूसरी तरह

हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि बच्चेके शरीरमें बिजलीके अधिक होनेसे उसकी मुट्ठी बंधी रहती है और बंधी रखनेमें अवश्य ताकत लगानी पडती है लेकिन वृद्धावस्थामें जब कि बिजली कम होजाती है उस समय वृद्धको मुट्ठी बांधकर रखनेमें प्रयत्न करना पड़ता है और खुली रखनेमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता वह दूसरी बात है जो कि वृद्धावस्थामें ठण्ड आदि लगजानेसे शरीरके अवयव सिकुड जाते हैं।

मित्रो ! इससे भली प्रकार हमारी समझमें आजाता है कि शान्त रहना आत्माका स्वभाव है और क्रोधादि करना ये औपाधिक हैं।

साहित्यमें रसोंका वर्णन करते हुए प्रथम श्रृङ्गार रसका वर्णन किया है। पतिपत्नी-की रतिके समय जो परस्परसकी वृत्ति है उसे श्रृङ्गाररस कहते हैं।

इसके अनन्तर वीर रसको बताया है "उत्साहात्मा भवेद्वीरः" जो आत्मा वीर-रसापन्न होती है वह उत्साहयुक्त होती है। पुनः शोकसे उत्पन्न होनेवाले करुणारसको बताया है तदनन्तर वर्णित हास्य रसकी उत्पत्ति चेष्टादिके विकृत करनेसे होती है। असंभव सदृश वस्तुके देखनेसे या सुननेसे अद्भुत रस उत्पन्न होता है। भयानक वस्तुओंके देखनेसे भयानक रसकी उत्पत्ति होती है तथा क्रोधादि कारणोंके आजानेसे रौद्र और जुगुप्साके कारणोंके देखनेसे बीभत्स रसका उत्पाद होता है। अन्तमें सम्यग्ज्ञानसे है उत्पत्ति जिसकी ऐसे शान्तिरसकी उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार आत्माको जो आकुलता रहित करके शान्तिके साम्राज्यमें बैठाते हैं ऐसे ही साहित्य ग्रन्थ प्रशंसनीय और गणनीय हैं ऐसे जैन साहित्य ग्रन्थोंकी संख्या कितनी है यद्यपि यह अभीतक किसीसे विदित नहीं है तथापि ऐसा विश्वास अवश्य है कि उनकी संख्या बहुत बड़ी है और उनका महत्व बहुत चढ़ा बढ़ा है।

मन्त्ररूप जैन साहित्य भी अपनी शानीमें एक ही है। **भक्तामरके** मन्त्रोंका आराधन करके और प्राप्त करके अब भी मनुष्य बहुत विचित्र २ कार्य करते दिखलाई देते हैं स्वयं **श्रीमानतुंगाचार्य** जिनको कि ४८ कोठोंके अन्दर बन्दकर दिया गया था मन्त्रोंके प्रभावसे ताले अपने आप खुलगये और मुनिमहाराज बाहर आगये। अब भी मन्त्ररूप साहित्यमें जो शक्ति है वह संस्कृत साहित्यमें नहीं और जो संस्कृत साहित्यमें शक्ति है वह हिन्दी साहित्यमें नहीं है। जैन संस्कृत साहित्य भी उसी प्रकार समुन्नत है जैसे कि जैन मन्त्र साहित्य कुछ ही समय पहिले। बादशाह अकबर हीरविजय यतिको अपनी शिक्षाके लिए अपने पास रखते थे और उनसे हरएक कार्यमें सम्मति लेते थे। **बादशाह अकबरकी** सभा ५ खण्डोंमें विभक्त थी, **श्रीहरिविजय** यति पहिली श्रेणीमें थे तथा और भी तीन जैन विद्वान् ५वीं श्रेणीमें थे। महाराज अकबर जैन सिद्धा-

न्तके नियमोंसे बहुत ही प्रसन्न थे। कारण यह था कि वे जैन सिद्धान्तके नियम सबकी हितसाधनाके लिए थे अतएव बहुत गौरवान्वित थे। सच तो बात यह है कि साहित्यके प्रणेता जिस प्रकारके गुणों वा अवगुणोंके ढांचेमें ढले होंगे उनके द्वारा प्रणीत साहित्य ग्रन्थ उतनी महत्ताको रक्खेंगे।

जैन हिन्दी साहित्यके विषयमें भी यदि आप विचार करेंगे तो वह भी आपको पूर्ण मिलेगा "मुनि मनसम उज्वल नीर" इत्यादि प्रतीपालंकारका कितना ज्वलन्त उदाहरण है तथा पंडित टोडरमलजी आदि द्वारा रचित गोमट्टसारादिकी टीकायें तथा अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ भी जैन हिन्दी साहित्यकी समुन्नत अवस्थाके परिदर्शक हैं।

इस प्रकार षट्द्रव्यकी आवश्यक्ता व सिद्धि तथा जैन साहित्यके महत्वके विषयमें जो कुछ आप महानुभावोंकी सेवामें निवेदन किया गया है इन्ही विषयों पर अन्य कितनी ही युक्तियों द्वारा अगाड़ी गवेषणापूर्ण विचार किया गया है। पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व लखनऊकी जनताके जैनमित्रमें लेखोंके लिए नोटिस निकालनेपर २ लेख षट्द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धिके विषयमें तथा तीन लेख जैन साहित्यके महत्वके विषयमें आये।

मैं ब्रह्मचारीजी तथा लखनऊ जनताके इस प्रेमविशेषका विशेष आभारी हूँ जो कि योग्यता न होने पर भी आगत लेखोंके परीक्षणका कार्य मुझे दिया। समाजमें अन्य उद्भट विद्वानोंके रहते हुए भी जो उक्त महाशयोंने यह कार्य मुझे दिया है इसमें अवश्य ही उनका प्रेम विशेष कारण है।

जिन महाशयोंके लेख आये हैं उनके **नम्बर** तथा **लेखपरिचय** निम्न प्रकार है।

षट्द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धिके विषयमें प्रथम लेख पं० **मथुरादास जैन-मोरेना**का आया। यह लेख संस्कृत साहित्य और दार्शनिक पद्धतिसे अच्छा है किन्तु लौकिक युक्तियोंसे कार्य नहीं लिया गया है। प्रकरणान्तर भी कुछ २ होगया है दार्शनिक पद्धतिसे लिखनेके कारण ५७ नम्बर उपयुक्त ज्ञात होते हैं। इनको जैन साहित्य सभसे ५०) पचास रुपया प्रथम नम्बरका पारितोषक भी मिला।

इसी विषयमें द्वितीय लेख **पं० अजितकुमारजी**का आया। इन्होंने षट्द्रव्यकी सिद्धिमें लौकिक युक्तियोंका समावेश कम किया है तथा आगमको भी पुष्ट करते हुए आगम गम्यत्वेन प्रामाण्य देना उचित था तथापि रूक्ष विषय होनेसे आपका आयश्रम प्रशंसनीय है। इनको लेखमें ५६ नम्बर मिले तथा सभाकी तरफसे दूसरे नम्बरक पारितोषक ३०) तीस रुपया दिया गया।

तृतीय लेख इसी विषयमें पण्डित बुद्धिलालजीका आया। यह लेख केवल हिन्दीकी सिफ्तसे अच्छा है परन्तु संस्कृत शास्त्रोंके तथा तदनुसार लौकिक युक्तियोंके अवलम्बनसे लिखा जाता तो विशेष प्रशंसावह होता। कुछ हिन्दीकी अशुद्धियां भी हैं तथापि प्रमेय कुछ नव्यताकी वायुसे संस्कृत किया गया है परन्तु पूर्ण अलङ्कृत नहीं होसका। इनको ४६ नम्बर दिये तथा सभाकी तरफसे तृतीय पारितोषक २०) वीस रुपया भी दिया गया।

षड्द्रव्यकी आवश्यक्ताके विषयमें ये ही सिर्फ तीन लेख आये थे।

द्वितीय विषय जैन साहित्यकी महत्ताके ऊपर प्रथम लेख पं० बनवारीलालजी स्याद्वादीका आया। इनका लेख उत्तम है। क्वचित् अशुद्धियां भी हैं किन्तु श्रमसे लिखा गया है। जैन काव्योंके महत्वपर अच्छा प्रकाश डाला है फिर भी अन्त महत्व तक दृष्टि नहीं पहुंची। श्रम विशेष प्रशंसनीय है। इनको ७० नम्बर मिले तथा ५०) पचास रुपयां सभाकी तरफसे पारितोषक भी मिला।

उक्त विषयपर द्वितीय लेख पं० सतीशचंद्रजी काशीका आया। आपका प्रयत्न अच्छा है किन्तु वैष्णव नियमोंपर विशेष लक्ष रक्खा है। जैन काव्योंमें दूसरे अन्यमतीय काव्योंसे महत्वद्योतक बातें अनेक भरी पड़ी हैं जिनका कि सम्बन्ध लौकिक पूर्ण सुख और निःश्रेयसके अतीन्द्रिय सुखसे है उन बातोंका जिक्र नहीं आया है फिर भी हिन्दी लेखन-दृष्टिसे तथा शब्दालङ्कार महिमासे यह लेख जनताको आदरणीय है। इनको लब्धाङ्क ६२ दिये गये तथा सभाकी तरफसे दूसरे नम्बरका इनाम ३०) रुपया भी दिया गया।

तीसरा लेख इसी विषय पर पं० अजितकुमारजीका आया। आपका लेख उचित है। जैनत्वकी भी छाया है। अन्त्य महत्व तक नहीं पहुंचे जो साहित्यका चरम फल है। नम्बर ५८ दिये गये तथा तीसरे नम्बरका इनाम २०) वीस रुपया दिया गया। ये तीन लेख जैन साहित्यके महत्त्व विषयपर आये। आशा है कि समाज इन लेखोंसे लाभ उठानेकी चेष्टा करेगा।

अन्तमें समाज नेताओं, विद्वानोंसे नम्र निवेदन है कि इस कार्यमें यदि किसी प्रकारकी त्रुटि रह गई हो तो क्षमा करें तथा प्रार्थना है कि इसी प्रकार दोनों तरफ यानी समाज नेता तथा विद्वानोंकी तरफसे प्रयत्न किया जायगा तो चन्द दिनों बाद ही आप जैन सिद्धान्त वृक्षकी प्रत्येक दिशामें छाया पड़ी हुई देखेंगे। विज्ञेष्वलमिति।

निवेदक—माणिकचन्द्र कौंदेय—मोरेना।
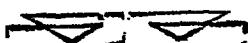
षट् द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धि।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० १)

(लेखक—पं० मथुरादासजी बेरनी (एटा) निवासी, विद्यार्थी, गोपाल जैनसिद्धांत विद्यालय-मोरेना)

श्री वीरवेर वेर वीर हो प्रभु तुम सुधीधर धीर हो
जगतापसे परितृप्तको तुम ही सुशीतल नीर हो।
सब सुखद सुखदाधार हो सब जगत प्राणाधार हो
विनवूं विना तुम अन्य नहिं मम भक्तिका आधार हो॥

सभ्य महोदय !

इस असार संसारमें जिधर भी दृष्टिपात करते हैं सर्वत्र सुखेच्छुकोंकी ही संख्या दिखलाई देती है। सभी अपने अपने सुखोंके कारणकलाप मिलानेमें अतीव सन्नद्ध और बद्धपरिकर दिखलाई पड़ते हैं। हम संसारका स्वरूप विचारते हैं तो वह बीभत्स ही जान पड़ता है "संसरणं संसारः" अर्थात् संसार परिवर्तन शील है यहां कोई एकसा कभी नहीं रहता, सब वस्तुयें अपने अपने स्वरूपमें परिवर्तन करती रहती हैं, समुन्नत कभी अवनति दशापन्न और अवनति दशागत कभी समुन्नत दिखलाई देती हैं, ये सब बातें सबके प्रत्यक्ष प्रतिदिन होती रहती हैं अतः ध्यान देना चाहिये कि इस परिवर्तनका क्या कारण है।

संसारका प्रत्येक प्राणी सुखोंकी इच्छासे ही इधर उधर कभी किसीके पास और कभी किसीके पास जाता है जिस तरह विषम रोगापन्न रोगीके घरवाला जब किसी व्यक्तिसे अच्छे वैद्यकी बाबत सुनता है उधर ही दौड़ता जाता है और वहांसे सफलता न प्राप्त होनेपर दूसरे वैद्यकी या औषधिकी खोजमें लग जाता है ठीक इसी तरह यह संसारी प्राणी भी कभी किसी और कभी किसी धर्मका आचरण करके सुखी होना चाहता है। यह अपने अभिलषितस्थानको जानेके लिए जब भी समुद्यत होता है तो इसे एक स्थान जानेके लिए भिन्न भिन्न मताश्रयी दार्शनिकोंसे निरूपित अलग अलग ही मार्ग दिखलाई पड़ते हैं जो कि एक दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध हैं।

ऐसे समय सुचारु विचारक महाशय ! इस जीवकी क्या दशा होगी यह आप अच्छी तरह जान सकते हैं। ऐसे व्यक्तिकी दशा हम उस व्यक्तिकी दशासे जान सक्ते हैं

---

१ वीरोंमें उत्कृष्ट, २ अंकानाम् वामतोगतिः इस नियमानुसार वरः महावीर, ३ विशेषेईते ईरः सर्वज्ञः।

जो कि किसी इच्छित स्थानको जाना चाहता है और मार्गका परिज्ञान न होनेके कारण एकत्रित मनुष्योंसे पूछता है कि अमुक स्थानको जानेके लिए कौनसा मार्ग है लेकिन समूहगत प्रत्येक व्यक्ति उसे अभिलषितस्थान जानेके लिए भिन्न भिन्न ही मार्ग बतलाता है। अब या तो वह बिचारा मनुष्य जानेका विचार ही छोड़ देगा या जावेगा भी तो सन्देहानुसरणसे अभीष्ट स्थानको नहीं पहुंचेगा।

संसारमें अलग अलग धर्मोपदेशक एक सुखके मार्गको पानेके लिए अपनी भिन्न भिन्न धर्मोपदेश रूपी टिकिट (Ticket) देकर स्वकल्पित सिद्धान्त गाड़ियोंमें बैठाकर इष्ट मार्ग प्राप्त करनेका दावा करते हैं अतः परीक्षाप्राधान्य मनुष्यका कर्तव्य है कि पहिले वह अपने जानेके मार्गकी अच्छी तरह परीक्षा करले जिससे कि अगाड़ी उसे अनिष्ट स्थान पर पहुंचकर दुःख न प्राप्त करना पड़े।

अब हमें पदार्थ विनिश्चायक उपायोंका यहां भी आश्रय लेना चाहिये। प्रत्येक पदार्थके निश्चयके लिए तीन उपायों की प्रथम ही आवश्यकता हुआ करती है—एक उद्देश, द्वितीय लक्षण निर्देश, तृतीय परीक्षा।

इस लेखमें षट् द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धि बतलाने तथा सिद्ध करनेके लिए पूर्ण प्रयत्न किया गया है यही इस लेखका उद्देश है। परीक्षा व लक्षण निर्देशका आगे खुलासा किया जायगा।

षट् द्रव्योंके नाम निर्देश और परीक्षाके पहिले द्रव्यका सामान्य लक्षण क्या है यह विचारना चाहिये। आचार्योंने द्रव्यका लक्षण "सद्द्रव्यलक्षणं" या "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" ऐसा कहा है यहां कोई ऐसी शंका करे कि लक्षण तो असाधारण हुआ करता है और लक्षण द्वयके होनेसे अवश्य ही लक्ष्य द्वयकी सिद्धि होगी सो उसका यह कहना भी समुचित नहीं है क्योंकि एक ही लक्ष्यका यहां प्रकारान्तरसे लक्षण किया है।

"सद्द्रव्यलक्षणं" "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इन लक्षणोंका यही तात्पर्य है कि द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। सतका लक्षण "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् जिसमें उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) ध्रौव्य (नित्यता) ये तीनों ही रहें उसे सत् कहते हैं। ध्रौव्य नित्यात्मक है और उत्पाद व्यय अनित्यात्मक है। चेतन वा अचेतन पदार्थ अपनी अपनी चेतनत्व वा अचेतनत्व जातिको न छोड़कर अंतरङ्ग बहिरङ्ग कारणोंसे जो दूसरे पदार्थके स्वरूपको प्राप्त करे उसे उत्पाद कहते हैं जैसे कि मिट्टीका घट अन्य रूप आकार हो जाता है, व्ययका अर्थ पूर्व पर्यायका चला जाना है जैसे कि घटकी उत्पत्तिमें मृत्पिण्डके आकारका अभाव है। ध्रौव्य उसे कहते हैं जो कि व्यय उत्पाद कर रहित है ध्रौव्य शब्दकी व्युत्पत्ति इस तरह की गई है कि ध्रुवति स्थिरि भवति ध्रुवः ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं,

अर्थात् जो सर्वदा स्थिति स्वभाव है उसे ध्रौव्य कहते हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका द्रव्यसे प्रथक् भाव है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अपृथक् भाव है क्योंकि द्रव्यसे अलग कहीं उत्पादादि नहीं देखे जाते। यहां एक द्रव्यमें उत्पादादिका भेद अभेद दोनो ही हैं अतः भेद अभेद परस्पर विरोधी होनेसे एक जगह नहीं रह सकते। ऐसा नहीं कहना चाहिये जैसे कि एक पदार्थमें अपने अभीधायक (वाचक)के अभिधान (कथन) की अपेक्षा अभिधेयता है और पर अभिधायकके अभिधानकी अपेक्षा अनभिधेयता है या स्वरूपकी अपेक्षा रूपता और पररूपाकारकी अपेक्षा अरूपता है उसीतरह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भेद और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेद समझना चाहिये। यहां थोड़ेसेमें पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक नय लेख्य होनेसे लिखता हूं।

जो साहदिसामण्णं अविणाभूदं विशेषरूवेहिं।
णाणा जुत्ति वलादो दव्वत्थो सो णओ होदि॥

अर्थात्—विशेष रूपसे अविनाभावी (विशेषरूपके विना जो न हो सके) जो सामान्य स्वरूप उसे युक्तियों द्वारा ग्रहण करनेवाली नयको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यमें सामान्य विशेष ये दो धर्म रहते हैं। विशेषको अप्रधान कर और सामान्यकी मुख्यतासे जो पदार्थका ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक तथा सामान्यकी अप्रधानता पूर्वक विशेषकी मुख्यतासे जो पदार्थ पर्यायका निरूपण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नयके भेद प्रभेदोंकी संक्षेपसे यह संदृष्टि हो सकती है—
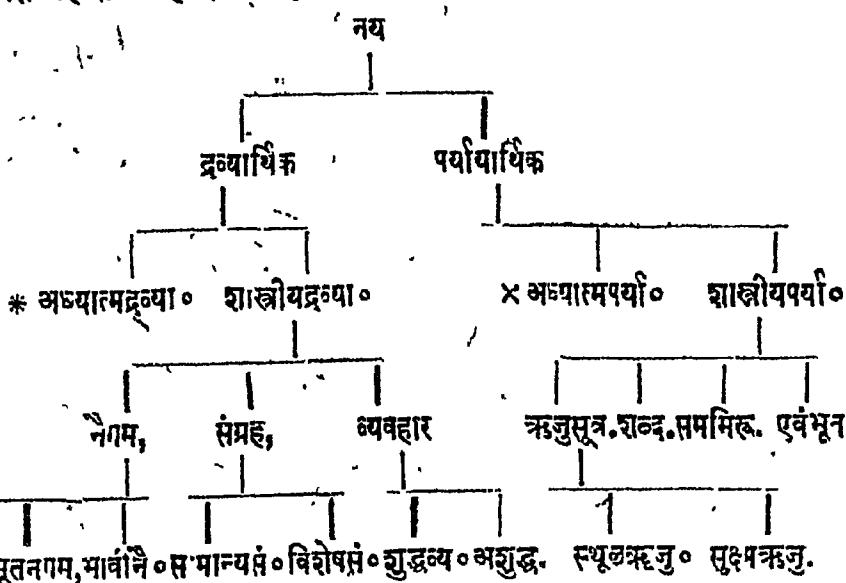
* इसके भेद—विधिनिरपेक्ष० शुद्ध, सत्ताग्राहक० शुद्ध, भेद विकल्पनिरपेक्ष० शुद्धि, कर्मोपाधिसापेक्ष० अशुद्ध, उत्पादव्ययसा० अशुद्ध, भेदकल्पनासापे० अशुद्ध, अन्वयद्र० स्वद्रव्यादिग्राह० परद्रव्यादि परमभावग्राही०

× इसके भेद—अनादि नित्यपर्या०, आदिनित्य०, अनित्य शुद्ध०, अनित्य अशुद्ध०, कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनि. शु०, कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध०,

उक्त कथनमें नयके संक्षेप रीतिसे भेद बताये हैं। पहिले नयके दो भेद किये हैं फिर द्रव्यार्थिकके २ और पर्यायार्थिकके दो भेद किये हैं पुनः शास्त्रीय द्रव्यार्थिक नैगमादि तीन भेद किये हैं और अध्यात्म द्रव्यार्थिकके कर्मोपाधि निरपेक्षादि १० भेद किये हैं। नैगमके तीन भेद किये हैं और संग्रह तथा व्यवहारके दो दो किये हैं। शास्त्रीय पर्यायार्थिकके ऋजुसूत्रादि ४ भेद किये हैं।

ऋजुसूत्रके दो भेद किये हैं तथा अध्यात्म पर्यायार्थिक ६ अनादि नित्य पर्यायादि भेद किये हैं, यद्यपि नयके लिखनेका यहां विशेष प्रयोजन ही था लेकिन प्रसंगवश कुछ लिखना पड़ा, अस्तु।

पहले द्रव्यका लक्षण कहा जा चुका है यहां यह बतलाते हैं कि "सद्द्रव्य लक्षणं"का जो अर्थ है वही अर्थ शब्दान्तरों द्वारा "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"में कहा है यानी हरएक पदार्थमें कोई न कोई शक्ति अवश्य होती है जैसे कि आत्मामें ज्ञान शक्ति, धर्ममें गतिहेतुत्व, अधर्ममें स्थितिहेतुत्व, आकाशमें अवगाहहेतुत्व, कालमें वर्तनाहेतुत्व, ये शक्तियां हैं। शक्ति गुणका पर्यायवाची शब्द है। द्रव्यमें अनन्त गुण होते हैं। यहां पर कोई ऐसी शंका करे कि द्रव्यमें रहनेवाला अनन्तगुणत्व वह द्रव्यसे अलग भी दिखलाई देना चाहिये। आधेय रूप द्वारा निरूपित होनेसे, कुंडमें दहीके समान, जैसे कि कुंडमें दही आधेयरूपसे अनुगत है अतः कुंडसे प्रथक् भी पाया जासक्ता है। द्रव्यमें अनन्त गुणत्व भी आधेयरूपसे निरूपित है अतः द्रव्यसे प्रथक् पाया जाना चाहिये।

यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहां जो आधार आधेयता है उसका अर्थ युत सिद्ध पदार्थकी आधार आधेयताके समान नहीं है।

युत सिद्धका स्वरूप लक्षण यही है कि जो प्रथक् प्रथक् स्वाश्रय सिद्ध हों, जैसे कुंडमें दही, यहां कुंड और दहीमें जो आधार आधेयता है वह युतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयता कही जायगी क्योंकि कुंड अपने अवयवों (अंशों) में रहता है और दही अपने दहीके अवयवोंमें रहता है। युतसिद्ध पदार्थोंमें चार अर्थोंकी प्रतीति होती। १ कुंड २ कुंडावयव ३ दही ४ दहीके अवयव। अयुत सिद्ध पदार्थोंमें जो आधार आधेयता है वहां तीन ही पदार्थ पाये जाते हैं जैसे आत्मामें ज्ञान गुण अयुत सिद्ध है। यहां १ आत्मा २ आत्मावयव ३ ज्ञान गुण अयुत सिद्धका लक्षण ऐसा है कि "ययोः द्वयोर्मध्ये एकोऽपराश्रितेव तिष्ठति तौ अयुतसिद्धौ" जिन दो पदार्थोंके बीचमें एक अपराश्रित होता वे दोनों आपसमें, अयुतसिद्ध कहलाते हैं जब कि अयुतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयता युतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयतासे सर्वथा भिन्न ही है तो युतसिद्धकी आधार आधेयतामें रहनेवाला गुण या दोष अयुतसिद्धकी आधार आधेयतामें कैसे आसकता है।

जैसे आत्मामें ज्ञानशक्ति है वह आत्मासे पृथक् नहीं पाई जाती, या उस ज्ञानशक्तिसे आत्मा अलग नहीं पाई जा सकती।

श्री नेमिचन्द्राचार्यने सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीवसे सबसे जघन्यज्ञानको पर्याय ज्ञान नामसे कहा है। यहां पर्याय समास, अक्षर, अक्षरसमास आदिमें जैसे उनका (पर्याय समासादिका) आवरण उन्हींके ऊपर पड़ता है यानी पर्याय समास ज्ञानावरण पर्याय समास श्रुतज्ञानके ऊपर पड़ता है। अक्षर ज्ञानावरण अक्षर श्रुतज्ञानके ऊपर, अक्षर समास ज्ञानावरण अक्षर समास श्रुतज्ञानके ऊपर पड़ता है उसी तरह पर्याय ज्ञानका आवरण भी पर्याय श्रुतज्ञानके ऊपर पड़ना चाहिये, लेकिन ऐसा न होकर पर्यायज्ञान, पर्याय समासज्ञान इन दोनोंका आवरण पर्याय समास श्रुतज्ञानके ऊपर ही पड़ता है इसका कारण यही है कि ज्ञानकी सबसे कम अवस्था है और उसपर आवरण पड़नेसे आत्माके ज्ञानवानपनेका ज्ञान कैसे हो सकेगा यही बात श्री जीवकाण्डमें प्रतिपादित है।

णवरि विसेसं जाणे सुहुम जहण्णं तु पज्जयं णाणं।
पज्जाया वरणं पुण तदणंतर णाण भेदेहिं॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके सर्व जघन्य ज्ञानको पर्यायज्ञान कहते हैं और पर्याय ज्ञानावरण पर्यायके बादमें कहे गये पर्याय समास ज्ञानके ऊपर पड़ता है और वह पर्याय ज्ञान इस गाथाके अनुसार—

सुहमणि गोद अपज्जत्त यस्स जादस्य पढम समयम्हि।
हवदि हुसव्व जहण्णं णिच्चुग्घाणं णिरावरणम्॥

यानी—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जो कि उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही है तब उसके ज्ञानको पर्याय ज्ञान कहते हैं वह आवरण रहित तथा नित्य ही प्रकाशमान रहता है इत्यादि इत्यादि।

यह दृष्टान्त स्वरूप जो आत्मा उसके ज्ञान गुणकी अपृथक् सिद्धिमें प्रसंगवश कहा गया है।

अब दृष्टान्त स्वरूप आत्मामें ज्ञान जैसे अभिन्नत्वेन रहता है उसी प्रकार अनन्तगुणत्व भी द्रव्यसे अभिन्न जानना चाहिये।

उक्त कथनसे यह बात सिद्ध की गई कि जो अर्थ सद्द्रव्य लक्षणका है वही गुणपर्ययवद्द्रव्यका है।

द्रव्यमें दो गुण रहते हैं। एक सामान्य एक विशेष। सामान्य गुण उसे कहते हैं जो बहुतसी द्रव्योंमें एकसा पाया जाय जैसे सत्व अगुरुलघुत्वादि जो एक ही द्रव्यमें रहे

उसे विशेष गुण कहते हैं जैसे कि जीवमें ज्ञानगुण, दर्शन सुख, वीर्य और पुद्गलमें स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

जिस स्थानमें उक्त प्रकृतियोंकी एकता पाई जाय उसे देश कहते हैं और पुद्गलके अंशको पुद्गलांशकी तरह देशके अंशको देशान्श कहते हैं। गुणमें तारतम्यसे गुणान्श रहते हैं। देशान्श जिस तरह विष्कम्भ क्रमसे होते हैं उस तरह गुणांशोंको नहीं समझना चाहिये बल्कि तारतम्य भावसे पाये जाते हैं जैसे गुण, खांड, मिश्री, अमृतमें माधुर्य और नीब, कञ्जीर, विष, हलाहलमें कटुता तारतम्यसे पाई जाती है।

द्रव्यमें अंशकी कल्पना की जाती है उसे ही पर्याय कहते हैं, यह अंश कल्पना दो प्रकारसे की जाती है, एक तिर्यगन्श कल्पना, दूसरी उर्द्धवांश कल्पना एक कालमें द्रव्यके अखंड रूप देशमें विष्कम्भ क्रमसे जो देशांशोंकी कल्पना है उसे तिर्यगन्श कल्पना कहते हैं जैसे खण्ड मुण्डादि गौओंमें गोत्व रहता है। अनेक समयोंमें प्रत्येक गुणकी काल क्रमसे तरतमरूप गुणांश कल्पनाको उर्द्धवान्श कल्पना कहते हैं जैसे कि स्थाल कोससूल आदि घट पर्यायोंमें मृत्तिका (मिट्टी) रहती है।

उत्पाद व्यय ये अनित्य स्वरूप हैं, ध्रौव्य ये नित्य स्वरूप है, अतः सतका स्वरूप नित्य अनित्यात्मक ही सिद्ध होता है। गुणपर्ययवद्द्रव्यं ये लक्षण भी नित्यानित्यात्मक ही है क्योंकि गुण नित्य हैं और पर्याय अनित्य हैं अतः नित्यानित्यात्मक ये दोनों द्रव्यके लक्षण एकार्थवाची ही हैं। ऊपर जो सतको नित्यानित्यात्मक कहा है वहां यह शंका होती है जब कि परमार्थतः सतका कभी नाश नहीं होता और असतका कभी उत्पाद नहीं होता तो उत्पाद व्ययवालेको नित्यता और ध्रौव्यको अनित्यता कैसे आवेगी। यदि आप असतका भी उत्पाद कहेंगे तो वन्ध्यापुत्र खरविषाण आदि असत पदार्थोंका भी उत्पाद होने लगेगा, और सतका भी यदि अभाव होने लगे तो आकाशादि सम्पूर्ण सत्पदार्थोंका अभाव हो जायगा अतः संसारको क्यों शून्यतापत्ति नहीं होगी। तथा पर्यायका जब द्रव्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तो पर्यायके नष्ट होनेपर द्रव्यका भी अभाव हो या द्रव्यका पर्यायके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है अतः द्रव्यके कभी भी नष्ट न होनेसे पर्यायोंका भी कभी विनाश न हो, इस कथनसे द्रव्य या पर्यायको नित्यता अनित्यतामेंसे एकरूप ही मानना चाहिये ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि यहां जो व्यय उत्पाद कहे हैं उसका अर्थ सर्वथा विनाश या उत्पाद नहीं है जिससे कि सतका सर्वथा विनाश होनेसे संसारको सर्व शून्यताकी आपत्ति आवे, और असतका उत्पाद होनेसे खरविषाणादिकी उत्पत्तिका प्रसंग हो। व्ययसे यहां पूर्व आकारका त्याग ही ग्रहण किया गया है जैसे घरके फूट जानेपर सिर्फ पूर्व आकारका परिहार ही होता है, मृत्तिका (मिट्टी)का अन्वय तो बना ही रहता है और मिट्टीसे जो

घटका उत्पाद होता है उसमें पिंडके आकारका तो परिहार हो कर घटका आकार हो जाता है। मिट्टी अन्वयरूपसे तो दोनों ही अवस्थाओंमें रहती है।

इसी तरह पर्यायमें भी पूर्व आकारका विनाश होकर उत्तर आकारका उत्पाद हो जाता है अतः उक्त दोष यहां घटित नहीं हो सकता।

सारांश, उक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि द्रव्यके 'सद्द्रव्यलक्षणं' 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इन दो लक्षणोंसे दो लक्ष्योंकी सिद्धि नहीं होगी बल्कि उक्त दोनों लक्षण एक ही अर्थके वाचक हैं अतः लक्ष्यरूप एक द्रव्यकी ही सिद्धि होगी तथा व्यय और उत्पादका सर्वथा विनाश और उत्पाद न माननेसे सर्व शून्यतापत्ति और खरविषाणादिकी उत्पत्तिका प्रसंग भी नहीं दे सकते।

द्रव्यका श्रीमदाचार्यने भी यही लक्षण किया है यह दिखाते हैं।

> दवदि दविस्सदि दविदं जंसब्भावे विहाय पज्जाये।
> तं णाइ जीवो पोग्गल धम्माधम्मं च कालं च।
> तिक्काले जं सत्तं वदि उप्पाद वयप्पुवत्ते हि।
> गुण पज्जाय सहावं अणादि सिद्धं खु हवे द्व्वं।

अर्थ—द्रवति, द्रविष्यति, द्रवितं वा द्रव्यं अर्थात् जो स्वभाव विभाव पर्यायरूप परिणमता है परिणमेगा, और पहिले परिणम चुका है, ऐसा २ प्रत्येक आकाश, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल ये इन भेदसे ६ तरहका द्रव्य है। तीन कालमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप सत्तसे जो सहित हो उसे या गुण पर्याय सहित जो अनादि सिद्ध हो उसे द्रव्यका लक्षण कहते हैं। ये तीन लक्षण द्रव्यके हो सकते हैं।

यहां कोई ऐसी शंका करे कि यदि ये तीन लक्षण एकार्थके ही सूचक हैं तो तीन लक्षण क्यों किये, सो उसकी यह शंका भी समुचित नहीं है क्योंकि इन तीनों लक्षणोंमें शब्द भेद और अर्थ अभेद होनेपर पृथक् २ शक्तिकी अपेक्षा ये लक्षण कहे गये हैं ऐसा जानना चाहिये।

पहिला लक्षण द्रवति द्रविष्यति द्रवितं आदि रूप द्रव्यत्व शक्तिकी अपेक्षा यह हम पहिले ही कह आये हैं कि शक्ति और गुणमें भेद नहीं है अतः पहिला लक्षण द्रव्यत्वगुणकी अपेक्षा, दूसरा लक्षण यानी तीनकालमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन सत्से सहित जो हो वह द्रव्य है यह सत्वगुणकी प्रधानतासे है। तीसरा लक्षण गुणपर्याय सहित जो अनादि सिद्ध हो वही द्रव्य है यह अगुरुलघुगुणकी अपेक्षा है।

इस प्रकार अर्हतमतावलंबियोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यका लक्षण कहा। अब दूसरे २ व्यक्ति द्रव्यका लक्षण कैसा २ मानते हैं, यह संक्षेपसे दिखलाया जाता है क्योंकि विना

दूसरेके लक्षणोंका निरूपण किये हम उनका दोषादि नहीं बतला सक्ते अतः उनके द्रव्यकी अप्रमाणता विन सिद्ध किये हम अपनी ही द्रव्यको सर्वथा प्रमाणता है यह भी नहीं कह सक्ते, तथा।

ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति।

अन्धकारके विना सूर्य और काचके विना मणि अपने गुणको प्रगट नहीं करती है उसी प्रकार विना असत (झूठे) द्रव्य लक्षणके हमारा सम्यक द्रव्यलक्षण भी अपने विशद लक्षणकी महत्ताद्योतक नहीं। इसी आशयका आश्रय लेकर परिकल्पित कुछ द्रव्योंका लक्षण और साथ रही उनकी अप्रमाणता भी बताते हैं।

'क्रियावत् गुणवत् समवायि कारणं द्रव्यलक्षणं' यानी क्रिया और गुण युक्त जो समवायी कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्यका लक्षण वैशेषिक, योग मानते हैं किन्तु इनका यह मानना भी ठीक नहीं है।

क्योंकि वैशेषिक लोगोंने लक्षणका लक्षण असाधारण धर्म वचनं, असाधारण (विशेष) धर्मका जो कहना उसे लक्षण कहते हैं ऐसा माना है।

और इस लक्षणके लक्षणानुसार उक्त द्रव्यका लक्षण घटित नहीं होता क्योंकि ये द्रव्यका लक्षण पृथिव्यादिकों नौ ही में जाता है अतः असाधारण नहीं कहा जा सकता। असाधारण एक ही जगह रहता है यदि असाधारण बहुत जगह रह निकले तो असाधारणत्व की हानि होती है तथा ऐसे असाधारण और साधारणमें कुछ भेद भी नहीं कहा जासकता जब कि असाधारणत्वका नाश होनेसे असाधारण कुछ चीज ही सिद्ध नहीं होगा तो 'यह गो है सींगवाली होनेसे' ऐसे साधारण ही हेतु दिये जायंगे और इस तरह साधारण हेतु देनेसे अतिव्याप्ति दोष आवेगा अतः किसी भी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बनेगी यदि यही दोष जैनियोंके यहां भी दिया जाय यानी जैनियोंने जैसे 'सद्द्रव्यलक्षणं' ये द्रव्यका लक्षण माना है और जीवादि द्रव्यमें वे उस द्रव्य लक्षणकी अनुवृति करते हैं अतः उनके यहां भी तो द्रव्य लक्षण नहीं बनसकता ऐसा आरोप नहीं कर सकते क्योंकि जैन दर्शनानुसार लक्षणका लक्षण असाधारण धर्म वचन नहीं है युक्ति वाधित होनेसे। लकड़ीके सम्बन्धसे मनुष्यको भी कभी २ लकड़ी कह दिया करते हैं लेकिन लकड़ी यह मनुष्यका असाधारण धर्म न होनेपर लक्षण माना जाता है अतः जैन दार्शनिक असाधारण धर्मको लक्षण नहीं मानते अतएव उक्त दोष उनके ऊपर नहीं आसकता बल्कि उन्हींके ऊपर आता है जो कि असाधारण धर्मको लक्षण मानते हैं। दूसरे, जैनियोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यका लक्षण जहां जहां पर पाया जायगा वहां वहां द्रव्यत्वका निश्चय कर देगा।

प्रतिपक्षी (शङ्काकार)–जैनियोंके यहां जैसे जहां २ द्रव्यका लक्षण रहेगा वहां वहां द्रव्यत्वका निश्चय करा देगा उसी तरह हमारा भी द्रव्य लक्षण जहां २ रहेगा द्रव्यत्वका निश्चय करा देगा।

(जैनी)–आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि आप तो द्रव्यका लक्षण द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानते हैं, यदि अभिन्न मानेंगे तो स्वसिद्धान्त हानि होगी।

(प्रतिपक्षी) द्रव्यत्वके योगसे हम द्रव्य सिद्ध कर लेंगे।

(जैनी) ऐसा करनेसे तो उपचारसे ही द्रव्यकी सिद्धि होगी क्योंकि–" मुख्याभावे सतिप्रयोजने उपचारः प्रवर्तते " मुख्यके न रहनेपर और प्रयोजनके होनेपर उपचारकी प्रवृत्ति होती है।

अस्तु तुष्यतु दुर्जनः न्यायसे आपका द्रव्यलक्षण सिद्ध भी मान लिया जाय तथापि पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मनमें ही उपर्युक्त द्रव्यका लक्षण जाता है। आकाश, काल, दिशा आत्मामें नहीं जाता अतः पक्षाऽव्यापक होनेसे द्रव्य लक्षण आदरणीय नहीं कहा जा सकता।

(प्रतिपक्षी) आकाश, काल, दिशा, आत्मामें गुणवत समवायिकारणं यह द्रव्यका लक्षण संघटित हो जायगा अतः हेतु पक्षाऽव्यापक नहीं हुआ।

(जैनी) ऐसा कहनेसे दो लक्षण द्रव्यके सिद्ध हो गये एक "क्रियावत् गुणवत्समवायि कारणं" दूसरा 'गुणवत समवायिकारणं'।

जब दो लक्षण सिद्ध हो गये तो द्रव्य पदार्थोंकी इन दो लक्षणोंसे सिद्धि होनी चाहिये अतः पुनः द्रव्यका लक्षण निर्दोष नहीं कहा जा सकता, जिससे कि पृथ्वी आदि नव द्रव्योंकी सिद्धि हो सके और फिर–" समवायसम्बन्धावच्छिन्न गन्धत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपिताधिकरण तावत्वं गन्धवत्वं" इत्यादि पृथ्वीका लक्षण नहीं बन सकता। क्योंकि लक्ष्य द्रव्यकी विना सिद्धि किये लक्षण नहीं बन सकता।

सांख्य अर्थ क्रिया कारित्व ही वस्तुका लक्षण मानते हैं—

इनका कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्तजीव नोकर्म मलावरणसे सर्वथा मुक्त हो गये हैं उनके क्रियाके अभावसे अवस्तुताका प्रसंग आता है। कोई कहे कि हम मुक्तोंमें भी क्रिया मान लेंगे तो उसके मतमें मुक्त जीवको कर्माभावका ही उच्छेद हो जायगा क्योंकि संसारी क्रियावान् है सकर्मक होनेसे। जो जो सकर्मक होते हैं वे ही क्रियावाले होते हैं जैसे कि रथ्यापुरुष। इस अनुमानसे सकर्मक और क्रियावान्का आपसमें अविनाभाव सम्बन्ध बतलाया है। मुक्तोंमे सकर्मकत्व हेतु न रहनेसे क्रिया नहीं मानी जा सकती, यदि

कोई ऐसी शंका करे कि मरण पश्चात् जीव दूसरी गतिको जाता है उस समय इसके कोई कर्म नहीं होते हैं तथापि दूसरी गतिके लिए गमनरूप क्रिया करता ही है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि विग्रह गतिमें जीवके कार्माणकाययोग रहता ही है। क्रिया उत्क्षेपण अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन इस तरह पांच प्रकार बतलाई गई है। मुक्तोंमें उक्त पांच क्रियाओंमेंसे कोई भी क्रिया नहीं देखी जाती अतः मुक्त सक्रिय नहीं हो सक्ते हैं और निष्क्रिय होनेसे अवस्तुत्वकी आपत्ति आती है अतः वस्तुका लक्षण अर्थक्रिया-कारित्व भी नहीं मानना चाहिये। वैशेषिक 'वस्तुका लक्षण सत्तारूप है' ऐसा ही मानते हैं, उनका यह लक्षण मानना भी समुचित नहीं है क्योंकि सत्तासे उनने महासत्ता मानी है और उस महासत्ताको वे नित्य ही मानते हैं अतः सिद्ध नहीं हो सक्ती।

सभ्य महोदय! पूर्वोक्त कथनमें द्रव्यके लक्षणकी परीक्षा करनेके लिए द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह तर्क कसौटी पर चढ़ाया गया है। अब अगाड़ी मुझे आपके सामने यह और पेश करना है कि द्रव्य कितनी हैं और किस किसने कितनी मानी हैं।

यह बात भली भांति विदित होगी कि पदार्थको प्रत्यक्षगत करके ही तुलना की जाती है। उससे पदार्थका जितना विशद ज्ञान होता है उतना अनुमानादिसे नहीं होता। तुलनाको हमें कसौटीरूप द्विष्ठ अवश्य मानना चाहिये क्योंकि तुलना बिना पदार्थत्वके नहीं होती, जैसे कि काले रूपके रहनेसे ही शुक्ल रूपकी महत्ता या अन्धकारके रहनेसे प्रकाशकी, रात्रिके होनेसे दिनकी, मूर्खसे विद्वानकी, तथैव द्रव्यके सम्यक् लक्षणकी भी द्रव्य-लक्षणाभासोंसे महत्ता है और द्रव्यसंख्याकी महत्ता भी तभी प्रमाणता को प्राप्त होती है जब कि द्रव्यसंख्याभास (झूठी द्रव्यकी संख्या) हो अतः यहां पर कल्पित द्रव्यसंख्याको लिखकर और उसका खण्डन करके स्वयं ही जैनियोंके द्वारा कल्पित संख्याके सिद्ध करनेमें यही तात्पर्य है।

जिस तरह दूसरोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यके लक्षण भिन्न २ होने पर भी सम्यक्त्वा-को नहीं प्राप्त होते हैं उसी तरह अन्य महाशयों द्वारा निर्धारित द्रव्यकी संख्या भी ठीक २ प्रतीत नहीं होती। किन्हीं २ की मानी हुई संख्या किसी न किसी भेद कर रहित और किन्हीं किन्हींने उस द्रव्यकी संख्या वृद्धिके लिए पुनरुक्तको भी दोष नहीं माना है।

"द्रव्याधिकरणवृत्ति सत्ताभिन्न जातिमत्वं द्रव्यस्यैव लक्षणं" इस द्रव्यके लक्षणको स्वीकार करने वाले वैशेषिक सात पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव मानते हैं। यहां उनका स्वल्प सिद्धान्त बताकर पुनः मैं जैनियोंके द्वारा कल्पित संख्याकी तुलना करता हुआ वैशेषिकोंकी अभिमन्य द्रव्य संख्याकी निरर्थकता बतलाऊं।

वैशिषिक, संसारमें पदार्थ दृष्टिसे हम देखते हैं तो हमें सात पदार्थ ही ज्ञात होते हैं जो कि ऊपर वर्णित हैं।

शङ्काकार—आप लोग शक्तिको आठवां पदार्थ क्यों नहीं मानते यदि आप कहें कि शक्ति वस्तुभूत नहीं है तो परीक्षा प्रधानी हम आपके वचन मात्रसे यह नहीं मानसके, शक्तिके साधक प्रमाण निर्दोष और सबल हैं अतः शक्तिको आठवां पदार्थ मानना चाहिये। हम देखते हैं कि अग्निका प्रतिबन्धक कोई कारण जबतक नहीं समीप आता अग्नि बराबर अपना दहन करना कार्य जारी रखती है। प्रतिबन्धक मणि आदिके आजाने पर उसकी शक्ति विनष्ट हो जाती है और फिर वह दाह नहीं करती अतः यह बात सुतरां मान्य है, कि शक्ति पदार्थान्तर है। यह शङ्काकारकी शङ्का भी अविचारित ही है, क्योंकि दाहकत्व कार्यके लिए अग्नि कारण है लेकिन कारणान्तर रहित या किसीके द्वारा बाधित सामर्थ्य कारण कार्योत्पत्तिके लिए मजबूर नहीं किया जा सकता"। यहां जो मणिके सद्भावसे अग्निकी दाहकत्वका अभाव हुआ सो यहां अग्निके दाहकत्व कार्यके लिए उत्तेजकाभाव विशिष्ट मण्यभाव कारण है जब कि मणिके सद्भाव होने पर उत्तेजकके अभावसे विशिष्ट मणि अभाव रूप कारण ही नहीं तो कार्य कैसे हो सकता है। अतः शक्ति कोई पदार्थान्तर नहीं है।

(शङ्काकार) अस्तु, शक्ति पदार्थान्तर नहीं है ऐसा हम भी मानते हैं किन्तु आपने जो द्रव्यके पृथ्वी, अप (जल), तेज (अग्नि), वायु (हवा), आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये ९ भेद माने हैं उनमें आपको अन्धकार भी एक १० वीं द्रव्य मानना चाहिये क्योंकि 'नीलं तमः चलति' यहां पर अन्धकारमें आपकी द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। आपने द्रव्यका लक्षण "क्रियावत् गुणवत् समवायि कारणं द्रव्य लक्षणं" ऐसा किया है। चलति (चलता है) इस क्रियाका आधार होनेसे अन्धकारमें क्रियावत् विशेषण रह ही जाता है तथा नीलं तमः (नीला अन्धकार—अन्धकारकी बहुसमुन्नतदशा)। ऐसा कहनेसे गुणवत् विशेषण भी घटित होही जाता है अतः अन्धकारको द्रव्य मानना ही चाहिये और उक्त ९ द्रव्योंमें इसका अन्तर्भाव भी नहीं है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, ये रूप रहित और अन्धकार सरूप हैं। अतः इनमें उसका (अन्धकारका) अंतर्भाव नहीं किया जासका। अन्धकार गन्ध रहित है अतः गन्धवाली पृथ्वीमें अन्तर्भावित नहीं हो सका तथा अन्धकार शीत गुण विशिष्ट भी नहीं है अतः जलमें, उष्णगुणसे भी रहित है अतः तेजमें नहीं घट सका"। अब जब कि अन्धकार उक्त नौ द्रव्योंमें अंतर्भूत भी नहीं होता, और

द्रव्यका लक्षण इसमें घट ही जाता है फिर भी अन्धकारको द्रव्य न माननेमें सिवाय तीव्र मोहके और कोई कारण नहीं कहा जासक्ता।"

यह सब उक्त शङ्काकारका बगुताल मात्र ही है। क्योंकि अन्धकार तेजके अभावके सिवाय कोई भावान्तर नहीं है।

(शङ्काकार) यदि ऐसा ही है तो फिर अन्धकारका अभाव ही तेज द्रव्य हो जायगा। अन्धकार ही को मान लीजिए। तमको तेजका अभाव होनेसे न मानना और तेजको तमका अभाव होने पर भी मानना यहां विद्वेषातिरिक्त क्या कारण कहा जा सक्ता है?

(उत्तर दाता) यदि तेज द्रव्यको अन्धकारका अभाव मान लिया जाय तो अभावमें सर्वानुभूत उष्णत्व नहीं रह सक्ता, और फिर उस उष्णत्वकी आधार रूप कोई अन्य द्रव्य माननी पड़ेगी।

द्वितीय, अन्धकार चलता है यहां द्रव्यका लक्षण भी संघटित नहीं होता। क्योंकि नील रूपको जो यहां प्रतीति होती है वह भ्रांत रूप ही है। अतः द्रव्य ९ ही माननी चाहिये न अधिक और न कम। इस मतके माननेवाले वैशेषिकके मतमें द्रव्यकी एकता सिद्ध नहीं हो सक्ती क्योंकि द्रव्यको ९ भेदवाला माना है और द्रव्यको एकता न बननेसे सात पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि स्वतंत्र नौ द्रव्योंको एक द्रव्य सिद्धि होनेपर द्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन २४ गुणोंमें ऐक्य सिद्ध होनेसे एक गुण, उत्क्षेपादि पूर्वोक्त पांच क्रियाओंमें एकता सिद्ध होनेसे एक क्रिया, पर-अपर दो सामान्योंमें तथा नित्य द्रव्यमें रहनेवाले अनन्त विशेषोंमें एकत्व सिद्ध होने पर एक सामान्य व एक विशेष, प्रागभव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव, अन्योन्याभाव इन चार अभावोंमें एकता सिद्ध होनेसे एक अभाव, एक समवायके समान सिद्ध होते तो सात पदार्थोंकी सिद्धि होती लेकिन उक्त द्रव्य गुण कर्मादिकोंमें एकता सिद्ध नहीं हो सकती अतः पदार्थ सात हैं यह कहना भ्रममात्र है। द्रव्यत्वके योगसे एक द्रव्य मानेंगे तो उपचारसे ही एकता सिद्ध होगी परमार्थतः सिद्ध नहीं हो सकती।

(शङ्काकार)—द्रव्य एक पदकी सामर्थ्यसे द्रव्यके सब भेद, प्रभेद ग्रहण कर लिये जावेंगे अतः द्रव्यमें एकता और गुण कर्मादिमें भी इसी तरह एकता आनेसे सात पदार्थकी सिद्धि हो जायगी, उक्तञ्च—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये।
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

अर्थ—विस्तारपूर्वक जिन पदार्थोंका तत्त्वनिश्चयके लिए उपदेश दिया जाता है

उनका जो संक्षेपसे कहना है उसे संग्रह कहते हैं। अतः संग्रहनयकी अपेक्षासे एकता सिद्ध. हो जायगी अतः सात पदार्थ मानना चाहिये।

उक्त कथन भी समुचित नहीं है क्योंकि एक पद वाच्य होनेसे एकता की ही प्रतीति होती है, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि सेना वन आदि एक पद वाच्य अनेक पदार्थ देखे जाते हैं। यहां ऐसी शंका करना कि सेना वनादि एक पाद वाच्यसे संबंध विशेषयुक्त एक की ही प्रतीति होती है। वह सम्बंध संयुक्त संयोगाल्पीयस्त्व लक्षणवाला कहा जाता है।

संयुक्तका जो नैरन्तर्य सम्बन्ध यानी संयुक्तका जो निकटवर्तित्व सम्बन्ध उसे संयुक्त संयोगाल्पीयस्त्व कहते हैं। यह कहना भी युक्ति सम्मत नहीं है। क्योंकि सेना वन आदि शब्दसे सबका ज्ञान मनुष्य घोड़ा आदिमें ही होता है। वन शब्दके कहनेसे पृथक् २ पेड़ोमें ही होता है। सम्बन्ध विशेषमें जो आप ज्ञान बताते हैं सो नहीं होता अतः एक पद वाच्य होनेसे एकताकी सिद्धि नहीं होसक्ती। अन्यच्च एक पद वाच्य होनेसे यदि एकताकी सिद्धि की जाय तो एक गोके द्वारा वाच्य जो ११ शब्द हैं उन सभीकी एकता माननी चाहिये।

उक्तं च-वाचि, वारि, पशौ, भूमौ, दिशि, लोम्नि, पवौ, दिवि।
विशिखे, दीधितौ, दृष्टावेकादशसु गोमतः॥

गोशब्द वचन, पानी, पशु, भूमि, दिशा, रोम, वज्र, आकाश, बाण, किरण और किरण इन ११ अभिधेयोंमें हैं।

एवं एक य शब्दके वाच्य त्याग, नियम, यम, वायु, धाता, पाता रक्षक इन छहोंमें भी एकता होनी चाहिये।

(**शङ्काकार**) वचन पशु आदिका वाचक गोशब्द, त्याग, नियम, यम आदिका वाचक य शब्द भिन्न भिन्न ही हैं फिर एक पद वाच्यत्व ही यहां नहीं रहता तो एकता कैसे।

(**उत्तर**) यह भी आपका कहना ठीक नहीं, ऐसे हम भी कहसक्ते हैं कि पृथ्वी जल आदिका वाचक अलग अलग ही द्रव्य शब्द हैं अतः एक पद वाच्यता न होनेसे एकता नहीं हो सकती।

संग्रह किये जांय अनेक पदार्थ जिस शब्दसे ऐसा शब्दात्मक संग्रह और एक प्रत्ययसे अनेक पदार्थ ग्रहण किये जाय ऐसा प्रत्ययात्मक संग्रह और अर्थात्मक इन तीनों संग्रहोंसे द्रव्यकी एकता सिद्ध नहीं की जासक्ती। द्रव्यकी ९ संख्या मानना भी संख्या-भास है क्योंकि इन ९ द्रव्योंका जीव पुद्गलमें अन्तर्भाव हो जाता है।

पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मनका स्पर्श, रस, गन्ध, रूपवाले होनेसे पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि जो जो स्पर्श रूप रस गन्धवाले होते हैं वे पौद्गलिक होते हैं जैसे आंख।

वायु और मनमें रूप न मानना भी न्यायसंगत नहीं है क्योंकि वायुरूप युक्त है स्पर्शवाली होनेसे। इस अनुमानसे वायुको रूपता सिद्ध ही है। वायुका रूप देखनेमें नहीं आता अतः उसे मानना भी नहीं चाहिये, यह कहना भी न्यायसम्मत नहीं है क्योंकि जो जो देखनेमें नहीं आवे उन उनका अभाव, यदि आप ऐसा कहेंगे तो तुम्हारे देखनेमें परमाणु नहीं आसकता अतः उसका भी अभाव कहना चाहिये। या तुम्हारे देखनेमें अपने बाबा परबाबा आदि भी देखनेमें नहीं आते अतः वे हैं ही नहीं ऐसा ही कहना चाहिये।

(शङ्काकार)—परमाणु परबाबा आदि यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं है तथापि कार्यसे कारणका अनुमान होता है। इस न्यायसिद्धांतानुसार कार्य जो मकान आदि उनसे कारण परमाणु आदिका और पिता हैं अतः पाबाबाका हम ज्ञानकरलेंगे। लेकिन वायुके रूपका कोई कार्य नहीं जिससे कि कारण स्वरूप रूपका ज्ञान किया जाय।

(उत्तर)—ऐसा भी नहीं कहसके क्योंकि स्पर्शत्वकी रूपवत्वके साथ व्याप्ति सिद्ध है अतः जहां जहां स्पर्शवत्व होगा रूपवत्व वहां अवश्य मानना पड़ेगा।

मन दो प्रकारका होता है द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन अष्टकमलदलमें रहता है और तदाकार जो आत्माके प्रदेश हैं उसे भावमन कहते हैं। चक्षुकी तरह ज्ञान और उपयोगका कारण होनेसे मन भी रूपादिवाला है, भावमनका अन्तर्भाव आत्मामें हो जाता है।

(शंका) आपने जो ज्ञानोपयोगवत्व हेतुसे मूर्तिमत्वकी सिद्धि की सो ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानोपयोगवत्व हेतु शब्दमें भी रहजाता है जो कि विपक्ष है। यानी मूर्तिमत्व साध्यसे विरुद्ध है अतः अनैकान्तिक दोषसे दुष्ट हेतु होनेके कारण साध्य सिद्धि नहीं कर सकता।

(उत्तर) यह आपकी शंका सर्वथा आपहीसे मान्य हो सकती है क्योंकि शब्दको पौद्गलिक होनेसे हम मूर्तिमान् मानते ही हैं।

(शङ्काकार) यदि शब्द पौद्गलिक होता तो अन्य २ पुद्गलके समान दिखलाई देता लेकिन जब शब्द दिखलाई ही नहीं देता तो मूर्तिमान कैसे सिद्ध हो सक्ता है।

यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि वक्ताके मुखके निकट देशी मनुष्य प्रत्यक्षसे और दूर देश स्थित पुरुष अनुमान कर यानी मुख पर रुई आदि हल्की वस्तु

रवारा जान सकते हैं। दूसरे, यदि शब्द पौद्गलिक न होता तो इसका पौद्गलिक वस्तुके द्वारा व्याघात नहीं हो सकता था लेकिन व्याघात होता हुआ देखते हैं। तथा शब्द पौद्गलिक है तभी तो मनुष्य जो कि ज्यादा ठोकापीटीका काम किया करता है बहिरा या कुछ कम सुननेवाला हो जाता है। भेरी शब्दको सुनकर गर्भिणियोंका गर्भ गिर जाता है। यदि शब्द पौद्गलिक न होता तो मूर्तिमान् कान स्त्री आदिको व्याघात न पहुंचाता। इससे ज्ञात होता है कि शब्द पौद्गलिक है और पौद्गलिक होनेसे मूर्तिमान् है, यदि शब्द पौद्गलिक न होता तो हवासे इधर उधर भी नहीं उड़ सकता। दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः द्रव्यकी ९ संख्या मानना संख्याभास है। क्योंकि इन नौका ही जीव-पुद्गल इन दो द्रव्योंमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः ९की अपेक्षा जीव-पुद्गल ये दो ही द्रव्य मानना चाहिये किन्तु इतना माननेपर भी धर्म अधर्म आकाश काल ये ४ और द्रव्य माननी चाहिये क्योंकि इनका उक्त जीव पुद्गल दोमें अन्तर्भाव नहीं है अतः इस प्रकरणसे यह सरकारासे यह समझना चाहिये कि आपकी काल आकाशके सिवाय जीव पुद्गलमें सभी द्रव्यसंख्या अन्तर्भूत हो जाती है लेकिन तो भी लोकगत सभी पदार्थ उसमें नहीं आते। धर्म अधर्म ये दो द्रव्य बाकी बच ही जाती हैं और जीव अजीवमें तो आपकी तथा धर्म अधर्म ये भी सब अन्तर्भूत होजाती हैं अतः आपकी द्रव्य संख्या सम्यक् नहीं मानी जा सकती क्योंकि तदाभास होनेसे।

अब नैयायिकोंने कितने पदार्थ माने हैं यह सूक्ष्मतः बतायेंगे। नैयायिक उक्त ७ पदार्थोंके अतिरिक्त और भी सोलह पदार्थ मानता है। वे ये हैं-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, निग्रह, जाति, किन्तु यह भी पदार्थ संख्या ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाण प्रमेय इन दोमें ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

सांख्यमतवाले प्रकृति, महान्, अहंकार, पांच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) पांच इन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिव्हा, घ्राण) पांच कर्मेंद्रिय (वाक्, पाणि, पाद पायु, उपस्थ) पांच भूत (आकाश, वायु, तेज, अप, पृथ्वी) एक पुरुष इस तरह २४ पदार्थ मानते हैं। सांख्यके विषयमें बहु वक्तव्य है लेकिन लेख वृद्धि भयसे इतना ही कहूंगा उक्त जो पदार्थकी व्यवस्था है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब कापिलिक प्रधान (प्रकृति) को ज्ञाता कर्ता मानते हैं तो फिर पुरुषके माननेकी क्या आवश्यकता है।

(कापालिक) कर्ता ज्ञाता प्रकृतिको मानकर भी भोक्ता पुरुष अवश्य मानना चाहिये।

(जैन) प्रकृति करने वाली नहीं हो सकती, भोगनेवाली न होनेसे। जो जो भोगनेवाली नहीं है वह करनेवाली भी नहीं है जैसे मुक्तात्मा कर्मके अभावसे कुछ भोगने वाले नहीं है अतः वे कर्ता भी नहीं हैं। प्रकृतिको आपने न भोगनेवाला माना ही है अतः उसे कार्य कर्तृ भी नहीं माननी चाहिये क्योंकि भोक्तृत्वके अभावकी कर्तृत्वके अभावके साथ व्याप्ति है।"

यहां कोई मनचला आदमी यह कहे कि रसोइया कर्ता है लेकिन भोक्ता नहीं है, भोक्ता मालिक है यह उसका कहना केवल हास्यके लिए ही हो सकता है क्योंकि पाचक जो कुछ प्रयत्न करता है उसका फल यानी भोग रुपया आदि लेकर अवश्य करता है।" अवैतनिक काम करनेवाले भी यश आदि स्वीकार करके स्वकृत कार्यके फल भोग ही लिया करते हैं और यदि कर्ताको भोक्तासे सर्वथा भिन्न मानेंगे तो भुज धातुसे कर्तामें प्रत्यय होकर जो भोक्ता शब्दकी सिद्धि होती है वह नहीं हो सकती।

हास्योत्पादक बात तो यह है कि प्रकृतिको तो सांख्योंने मुक्तदाता माना है और इस उपकारके लिए पुरुषको मोक्ष इच्छुक पूजते हैं। यह सिद्धान्त इस बातकी सिद्धिके लिए पुष्ट साधक होगा कि "भोजन अन्य ही करे और पेट दूसरेका ही भरे"। अतः सांख्यके द्वारा स्वीकृत अर्थ संख्या भी ठीक नहीं है क्योंकि उनके स्वीकृत चौवीसों पदार्थोंका जीव अजीवके अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अब कुछ बौद्धोंके विषयमें और कहके मैं इस प्रकरणको समाप्त करता हूं। बौद्धके चार भेद हैं—१ माध्यमिक, २ योगाचार, ३ सौत्रांतिक, ४ वैभाषिक, इन चारों भेदोंका पृथक् २ सिद्धांत बतला देनेसे बौद्धमान्य पदार्थ संख्याका क्या ढांचा है यह अच्छी तरह समझमें आ जायगा।

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्।
योगाचारमते तु सन्ति मतयः तासां विवर्तोऽखिलाः॥
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः।
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

माध्यमिक चेतन चेतन ही पदार्थ मानता अवशिष्ट सबको उसकी पर्याय मानता है। "केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमा पुन इति वचनात्" माध्यमिक लोग केवल सचेतन सूक्ष्म पदार्थ मानते हैं।

योगाचार मतानुयायी ज्ञान ही ज्ञान मानते हैं अन्य पदार्थ नहीं। अन्य सब पदार्थ ज्ञानकी पर्याय हैं ऐसा कहते हैं। "आकारसहिताबुद्धिः योगाचारस्य सम्मता" आकार सहित बुद्धि (पदार्थकाज्ञान) को योगाचारके मतमें प्रमाणता है। सौत्रान्तिक बुद्धि यानी

प्रत्यक्षके द्वारा अनुमित पदार्थको ही मानता है और वह पदार्थ क्षणस्थिति शील (क्षणिक) है ऐसा कहता है।

"सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्योऽर्थो न वहिर्मतः" सौत्रांतिका (नास्तिक) केवल प्रत्यक्ष वस्तु ही को मानता है।

यद्यपि बौद्ध सामान्य पनेसे प्रत्यक्ष अनुमान दो प्रमाण मानते हैं किन्तु बौद्ध भेदान्तर्गत सौत्रान्तिक केवल प्रत्यक्ष पदार्थको ही मानता है। वैभाषिक संपूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष और क्षणभङ्गुर मानते हैं।

"अर्थोज्ञानान्वितः वैभाषिकेण बहुमन्यते" वैभाषिक ज्ञानान्वित पदार्थको बहु ज्ञान मानते हैं" यह सूक्ष्मतः बौद्धोंकी पदार्थ कल्पना है।

बौद्ध पदार्थको क्षणिक मानते हैं। वे कहते हैं कि "सर्वं क्षणिकं सत्वात्" सब पदार्थ क्षणविनश्वर हैं सत होनेसे। यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि सत्वरूप जो हेतु है उसे यदि आप स्वभाव हेतु मानेंगे तथापि नहीं बन सकता। क्षणिकके विनश्वर होनेसे हेतुकी ही प्रवृत्ति ही नहीं होती। क्योंकि प्रत्यक्षगोचर पदार्थमें ही हेतुकी प्रवृत्ति होती है। पदार्थोंका क्षणभंगुरता स्वभाव भी नहीं है।

(शङ्काकार) सब ही पदार्थ एक क्षणतक रहनेवाले हैं। विनाशके लिए दूसरोंकी अपेक्षा न करनेसे, जैसे कि कार्योत्पादके ठीक एक समय पहिलेकी सामग्री कार्योत्पत्तिमें किसीकी आवश्यकता नहीं रखती है।

दुनियामें घटादिकका मुद्गरादिकसे नाश होता है, ऐसा कथन सिर्फ स्थूल बुद्धि-वालोंका ही है। पदार्थ स्वविनाशी हैं। मुद्गरादिक उसका विनाश नहीं करते।

कल्पना कीजिए कि यदि मुद्गरने घरका विनाश किया तो घरसे भिन्न किया अभिन्न। यदि भिन्न कहेंगे तो घरकी स्थिति बनी ही रहनी चाहिये। यदि अभिन्न नाश किया तो मुद्गरने घरको बना दिया।

सत्वरूप हेतुकी विपक्षवृत्ति नहीं है अतः साधु है, क्योंकि सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त है, अर्थ क्रियाक्रम यौगपद्यसे व्याप्त है, नित्यमें क्रम यौगपद्य नहीं रहते अतः अर्थ क्रिया भी नहीं रहेगी और अर्थ क्रियाके न रहनेसे नित्यमें सत्व भी नहीं रह सकता अतः निर्दोष सत्व हेतु क्षणिक पदार्थकी सिद्धि करता ही है।

यह बौद्धोंका कहना भी शोभाको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि क्षणिक सिद्धिके लिए जो हेतु दिया था वह सर्वथा सदोष है। घटपटादि पदार्थ विनाशके लिए दूसरोंकी अपेक्षा रखते ही हैं और पदार्थोंको विनाश स्वभावता क्षणिक रूपसे नहीं मानी जासकी। उक्तञ्च–

समुदेति विलयमृच्छति भावो नियमेन पर्यायनयस्य ।
नो देति नो विनश्यति भावनया लिङ्गितो नित्यम् ॥

अर्थ—पदार्थ पर्यायनयकी अपेक्षासे उत्पाद विनाशको प्राप्त होता है । द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नित्य ही है ।

दूसरे जो यह हेतु दिया था कि सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त अर्थ क्रियाक्रम यौगपद्यसे क्रम योगपद्य नित्यमें रहते नहीं अतः सत्य रूप हेतु विपक्षमें न रहनेसे साधु है सो हम इसका उल्टा भी कह सकते हैं यानी सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त है, अर्थ क्रियाक्रम योगपद्यसे व्याप्त है और क्रमयोगपद्य क्षणिकमें रहता नहीं अतः विपक्षके समान पक्षमें भी हेतु नहीं रहता । इस लिए हेतु असिद्ध दोषसे दूषित है क्योंकि "असत्सत्ता निश्चितोऽसिद्धः" यानी जिसकी सत्ताका अभाव हो या सत्ताका निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं सो यहां सत्व हेतु पक्षमें न रहनेसे असिद्ध है ।

इस प्रकार वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, इनकी पदार्थ संख्याका खंडन किया । अब जैनियोंके स्वीकृत जीवादि ६ पदार्थोंका क्या क्या सामान्य विशेष स्वरूप है और कैसे सिद्धि है यह बतलाते हैं ।

युगलात्मक संसारमें निरपेक्ष दृष्टिसे हम देखते हैं तो संसारका सार युग्म ही दिखलाई देता है । जहां देखते हैं युग्मकी ही भरमार है । गौण या मुख्य, स्त्री–पुरुष, पुत्र–पुत्री, लड़का–लड़की, सम्यक्त्व–मिथ्यात्व, एकान्तवादी–अनेकान्तवादी, उल्टा–सीधा, भला–बुरा, ऊंच–नीच जिस तरह इन युग्मोंका आधिपत्य है उसी तरह संसार दो ही पदार्थ दिखलाई एक जीव है और दूसरा अजीव । इसे युग्ममें संसारके सभी युग्म आकर मिल जाते हैं ।

"जीव शब्दकी व्युत्पत्ति 'जीवति–प्राण न् धारयति' जो प्राणोंको धारण करे इस प्रकार की गई है" । जिस तरह जीवद्रव्य संसारी मुक्तात्मा इन दो भेदवाला है उसी तरह अजीवके पांच भेद हैं—१ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश, ५ काल ।

अब क्रमसे पहिले जीवकी सिद्धि करते हुए पुद्गलादिकी आवश्यकता और सिद्धिका निरूपण करेंगे" ।

जीवद्रव्यकी आवश्यक्ता और सिद्धिः ।

जीवके पूर्वोक्त दो भेदोंके अतिरिक्त और भी एकेन्द्री, दोइंद्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेंद्री ये पांच भेद हैं । एकेन्द्रीके पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेजकाय, वनस्पतिकाय ये पांच भेद हैं । वनस्पतिके दो भेद हैं—साधारणव०, प्रत्येकव०, प्रत्येकके सप्रतिष्ठित

प्रत्येक० अप्रतिष्ठित प्रत्ये० ये दो भेद हैं । पृथ्वीके १ पृथ्वी, २ पृथ्वीकाय, ३ पृथ्वीकायिक, ४ पृथ्वीजीव इस प्रकार ४ भेद हैं इसी तरह अप् आदिके भी भेद जानने चाहिये ।

सभी जीवतत्वको स्वीकार करते हैं किन्तु कुछ आधुनिक सुसभ्य कोटिमें अपनेको सर्वोत्तम माननेवाले जीवके कुछ भेदोंको नहीं मानते यानी मनुष्य पशु आदिमें जीव मानते हैं, पृथ्वी जल आदिको जीवरूप नहीं मानते और इनसे भी बढ़ी बढ़ी सभ्यतावाले चार्वाक जीवतत्वको ही नहीं मानते, पृथ्वी जल आदिमें जीव न माननेवाले महाशय वनस्पतिमें भी अभी तक जीव नहीं मानते थे लेकिन कुछ दिनों पहिले डाक्टर वसुने बहुत प्रसन्न होकर और अपने श्रमकी सफलता मानते हुए यह प्रकाशित किया था कि वनस्पतिमें भी जीव है । डाक्टर वसुका कहना था कि जिस वनस्पतिमें जीव सिद्ध करनेके लिए मुझे अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ी और बहुत समय व्यय करना पड़ा उस जीव सिद्धिको जैनाचार्य हजारों वर्ष पहिले अपने ग्रंथोंमें लिख गये हैं और इतना ही नहीं बल्कि उस जीवकी आयु वर्ण जाति आदि सूक्ष्म २ बातोंका भी वर्णन कर चुके हैं जिसको सिद्ध करनेके लिए बड़े बड़े विज्ञानवेत्ताओंको भी बहुतसा समय शक्ति तथा जीवन समर्पण कर देनेकी आवश्यकता है । यह जैनाचार्योंके क्षयोपशम, ज्ञानशक्ति, तथा सदाचारका ही फल है ।

जब कि भूततत्व वादियोंकी दृष्टि भी जीवसिद्धिकी तरफ झुकती जाती है और सफलता भी प्राप्त होती जाती है तो आशा होती है कि यदि और अधिक सूक्ष्म रीतिसे गवेषणा की जाय तो पृथ्वी अप आदिमें भी जीवकी सिद्धि हो जायगी । चार्वाक मतानुयायी जीवको नहीं मानते हैं अतः उनके कुछ सिद्धांतका निदर्शन कराके मैं जीवसिद्धि करूंगा ।

चार्वाक मतानुयायी कहता है कि पृथिव्यादि चार भूततत्वोंसे जो कि देहके आकारमें परिणत है चैतन्यकी उत्पत्ति होती है ।

जैसे कि मदराके कारणोंसे मादक शक्ति उत्पन्न होती है और जब ये भूततत्व अलग २ हो जाते हैं तो पृथिव्यादि रूप जो चैतन्य वह विनष्ट हो जाता है । स्वतः सिद्ध अनादिकालीन कोई जीवतत्व नहीं है । क्योंकि हमारे मतमें एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मान्य है क्योंकि अनुमानादि असत्य तत्वको ग्रहण करते हैं अतः उन्हें प्रमाणता नहीं ।

वेदानुयायी ब्राह्मणोंमेंसे कोई कर्मकाण्डकी प्रशंसा करते हैं और कोई ज्ञानकांडकी, यह सब अपने २ स्वार्थवश कोई किसी तरहका कोई किसी तरहका अर्थ निकालते हैं सो ठीक नहीं है ।

नरक, स्वर्ग, मोक्ष मानना युक्तिरहित्य होनेसे मूर्खता द्योतक है। क्योंकि प्रत्यक्षसे न नर्क ही दिखता है और न स्वर्गादि ही, फिर आश्चर्यकी बात है कि इस अंध-परंपरा पर लोगोंका क्यों विश्वास होता आ रहा है। उक्तञ्च-

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिला।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥

भूमि, वारि (जल), अनल (अग्निः), अनिल (वायुः) ये ४ ही पदार्थ हैं, इनसे ही जीवका निर्माण होता है।

किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मद शक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥

अर्थः—जैसे किणु आदिक मदोत्पादक कारणोंसे मद शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार चार भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। देह और चैतन्य भेद मानना सर्वथा मिथ्या है क्योंकि मनुष्य जो कुछ अधिक मोटा होता है कहता है कि मैं मोटा हूं और इससे जो प्रतिपक्षी है वह अपने आपको कहता है कि मैं बहुत पतला हूं, यहां मैंर इन शब्दोंसे मोटा शरीर और पतला शरीर इसका ही ग्रहण होता है। देहके सिवाय किसी अन्यका ग्रहण नहीं होता जिससे अदृश्य जीवकी कल्पना की जाय।

देहः स्थौल्यादि योगाच्च स एव आत्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवे दौपचारिकी ॥

अर्थः—मेरा यह देह है, मेरा शरीर स्थूल या कृप है इत्यादि भेद प्रतिपादक वचन उपचरित ही हैं क्योंकि देहको छोड़कर आत्मा कोई देही नहीं है।

यावज्जीवं सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य जीवस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थ—जबतक कि जीवन है आनन्दसे जीना चाहिये क्योंकि सब हीका नाश अवश्यंभावी है और नाश होनेके बाद पुनः जीव आता नहीं जिससे कि फिर सुख भोग सके।

तथा जीव स्वर्ग मोक्ष आदि आदि किसीकी भी सिद्धि नहीं होती। पुनः जो ब्राह्मणादि जीवादिका उपदेश देते हैं वे अपने स्वार्थवश होकर ही देते हैं।

ततश्च जीवनोपाय ब्राह्मणैः विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित ॥

अर्थात्–धूर्त ब्राह्मण गणने अपने जीवनोपायके लिए नाना क्रियाओंका कथन किया है। यह उनका कथन है कि मनुष्यके मरनेके बाद प्रेतकार्य करने पड़ते हैं, क्योंकि विना प्रेतकार्य किये मनुष्य स्वर्ग सुख कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता।

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचरा।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृताम्॥

अर्थः–वेदके तीन ही मुख्य कर्ता हैं–भण्ड, धूर्त, राक्षस, क्योंकि जर्फरीतुर्फरी आदि वचन धूर्त, भण्ड, राक्षस पण्डितोंके वचन ही हैं। इस तरह जब जीवकी ही सिद्धि नहीं होती तो फिर अजीव किस तरह सिद्ध होगा, क्योंकि जो जीव नहीं उसे अजीव कहते हैं। अजीव जीवका प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध हमेशह विधि पूर्वक होता है। जब कि मुख्य जीव अजीव ये पदार्थ ही सिद्ध नहीं होते तो जीव पुद्गलकी गति स्थितिके सहायक धर्म, अधर्म द्रव्य, अवगाह देनेवाला आकाश, तथा इनको वर्तानेवाला काल ये कैसे सिद्ध हो सकते हैं। और जीव अजीवके बन्ध निर्जरा मोक्षादि कैसे सिद्ध होंगे।

इस तरह जीव, धर्म, अधर्म, आकाशादि किसीके सिद्ध न होनेसे चार्वाकमत सिद्ध हो गया और उसीका सब लोगोंको आश्रय लेना चाहिये। सांख्य मतानुयायी जीवको मान करके भी कूटस्थ नित्य मानते हैं। मीमांसक अकिञ्चित्कर मानते हैं, नैयायिक जीवको जड़ रूप मानते हैं, और बुद्धानुयायी ज्ञान सन्तान रूप ही मानते हैं। इत्यादि सिद्धांत माननेवाले परमार्थतः सत्य सिद्धांतसे बहुत दूर पड़े हुए हैं।

प्रथम चार्वाक मतका खण्डन किया जाता है–पृथ्वी, अप, वायु, और अग्निसे यदि जीव बनता होता तो पृथ्वी आदिके गुण उसमें अवश्य पाये जाने चाहिए क्योंकि कारणके धर्म कार्यमें अवश्य आया करते हैं, यदि ऐसा न हो तो मिष्ट गुणके द्वारा बनी हुई चीज़ कडुई भी लगनी चाहिये। और विषके द्वारा मनुष्यको नशा भी नहीं आना चाहिये इत्यादि तथा ऐसा होनेसे पदार्थ व्यवस्थाका व्याघात हो जायगा। अतः कार्यमें कारणके धर्म अवश्य आना चाहिये।

जब कि पृथ्वीका गन्धवत्व काठिन्य गुणात्मकत्व आदि गुण, जलका द्रव्यत्वादि, वायुका ईरणादि, अग्निका दाहकत्वादि गुण चैतन्यमें पाये ही नहीं जाते तो कभी भी यह बात मान्य नहीं हो सकती कि जीव चार भूतोंसे बना है। अन्यच्च जैसे कि कारणके धर्म कार्यमें अवश्य रहने चाहिये उसी तरह कार्यके धर्म भी उसके कारणमें अवश्य रहने चाहिये। नहीं तो यह कार्य इन्हीं कारणोंका है इसका निश्चय कैसे हो सकेगा।

चैतन्यका पृथ्वी आदिमें कोई धर्म भी नहीं पाया जाता। मनुष्यको जो ज्ञान होता

है, स्मृति होती है, प्रत्यभिज्ञान होता है, सुख दुःखका अनुभव होता है, यह सब पृथ्वी आदिमें नहीं पाये जाते।

(शङ्काकार)–अलग अलग पृथ्वी आदिमें ये धर्म नहीं पाये जाते किन्तु जब पृथ्वी आदि सब मिल जाते हैं तब इसमें इन सब धर्मोंका उत्पाद हो जाता है। जैसे कि मस्सन (स्फोटक द्रव्यविशेष) को आप अलग चाहे जितनी बारीक पीस सक्ते हैं और उसी तरह पटासल (स्फोटक द्रव्यविशेष) को भी बहुत बारीक पीस सकते हैं लेकिन यदि आप उन दोनोंको एकत्रित करके पीसना चाहें तो पीसनेकी बात तो दूर रहे आप उस मिली हुई मस्सल और पटासलकी धूलिके ऊपर स्वल्प आघात भी नहीं कर सक्ते क्योंकि उन दोनोंके मिलनेसे उनमें दाहकत्व शक्ति आ जाती है। यहां जिस तरह अलग २ दाहकत्व शक्ति नहीं भी थी लेकिन मिलाप होनेसे आगई। दूसरा दृष्टांत यह भी दिया जा सकता है कि जैसे ताजी दहीमें स्वतंत्र जीवके शीघ्र पैदा करनेकी शक्ति नहीं है और भिगोड़ों (दालके बने हुए) में भी स्वतंत्र शीघ्र जीव पैदा करनेकी शक्ति नहीं है, लेकिन उन दोनोका मेल करनेसे कुछ समय बाद ही या मेल करके मुंह तक लेजाते ही जीव पड़ जाते हैं। उसी तरह यद्यपि पृथ्वी आदिमें अलग २ ज्ञानादि उद्घाटनकी शक्ति नहीं है किंतु संयोग होनेपर हो जाती है।

यह कहना भी अविचारितरम्य ही है क्योंकि आपने जो दृष्टांत दिये वे दोनों ही दृष्टांताभास हैं। आपने जो यह कहा कि जैसे अलग २ मस्सल पटासलमें दाह करनेकी शक्ति नहीं है लेकिन मिलनेसे होजाती है यह सर्वथा असत्य है। आपको उन दोनोंमें प्रथक् २ भी अवश्य दाहकत्व शक्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि जिनमें प्रथक् २ ही शक्ति नहीं होती उनमें इकट्ठे होने पर कैसे आ सकती है। जिस नींब, कंनीर, विष, हलाहलमें प्रथक् २ माधुर्य शक्ति नहीं है तो मिलने पर भी नहीं आ सकती। यदि आप ऐसा कहें कि प्रथक् २ पृथ्वी आदिमें भी ज्ञानादि शक्तियां रहती हैं तो पृथ्वीसे निर्मित घर भी ज्ञानवान् होना चाहिये। जलके द्वारा बनी हुई बर्फ भी ज्ञानवती होनी चाहिये अतः पृथ्वी आदिमें ज्ञानादि शक्ति न होनेसे पृथ्वी आदिके द्वारा ज्ञानवान् जीवकी कदापि उत्पत्ति नहीं मानी जा सक्ती। और जो आप (चार्वाक) यह कहते हैं कि "जीव नहीं है" सो यहां जो जीवको पक्ष बताया है और नास्तित्वको साध्य बनाया है। पक्ष हमेशह प्रसिद्ध हुआ करता है लेकिन जीव जब आपके यहां माना ही नहीं जाता तो प्रसिद्ध नहीं हो सकता, और प्रसिद्ध न होनेसे जीव पक्ष कोटीमें नहीं लाया जा सकता फिर उसे पक्ष बनाना अन्याय है।

(शङ्काकार) आप जैनी लोग तो जीवको प्रसिद्ध ही मानते हैं अतः हम आपके द्वारा प्रसिद्ध जो जीव है उसका निषेध कर देंगे, अब आप यह नहीं कह सकते कि

तुमने (चार्वाक) बिना प्रसिद्ध जीवको पक्ष बना लिया। हमने जीवकी प्रसिद्धता आपसे जानली और प्रसिद्ध होनेसे उसे पक्षकोटीमें रखकर नास्तित्व साध्य दिया।

(जैन) आपने जो हमारे जाने हुए प्रसिद्ध जीवको माना सो प्रमाण रूपसे या अप्रमाण रूपसे। यदि कहोगे कि प्रमाण रूपसे माना तो फिर नहीं कह सकते कि आप किस बुद्धिमत्तासे उसका खण्डन कर रहे हैं। यदि अप्रमाण रूपसे माना तो वह आपके लिए अप्रमाण ही है फिर आप उस अप्रमाणको अप्रसिद्ध होनेसे कैसे पक्ष बना सकते हैं।

यदि आप कहें कि हम अनुपलब्धि हेतुसे जीवका अभाव सिद्ध करेंगे सो आप ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि आप अनुमान तो मानते नहीं और साधनसे जो साध्यका ज्ञान करना है उसे ही अनुमान कहते हैं।

यदि आप कहे कि हम व्यवहारके लिए अनुमान मानते ही हैं तो हम आपसे यह पूछते हैं कि आपने जीवके अभावको अनुपलब्धिसे जाना तो आप कहें कि आपने अनुपलब्धिको किससे जाना। यदि कहोगे कि अभावसे तो अन्योन्याश्रय हो जायगा क्योंकि जीवका अभाव सिद्ध अनुपलब्धिसे हो और अनुपलब्धि अभावसे सिद्ध हो।

तीसरे अनुपलब्धि रूप हेतुकी अभावके साथ व्याप्ति ही नहीं है क्योंकि करात् आदानमुपलब्धिः' या 'स्वचक्षुषा प्रत्यक्षं उपलब्धिः' हाथसे ग्रहण करना उपलब्धि कहा जासकता है या अपनी चक्षुसे प्रत्यक्ष करना उपलब्धि कहा जा सकता है और उसको अनुपलब्धि किन्तु परमाणु न तो हाथसे ग्रहण किया जा सकता है और न चक्षुसे प्रत्यक्ष ही किया जासकता अतः अनुपलब्धिका उक्त दोनो अर्थोंमेंसे कोई एक अर्थ करनेसे या दोनो ही अर्थ करनेसे परमाणुमें अनुपलब्धि हेतु रह जाता है लेकिन परमाणुका अभाव तो है नहीं क्योंकि यदि परमाणुका अभाव हो जायगा तो परमाणुका समूह स्कन्ध नहीं मिल सकता और स्कन्ध न मिलनेसे संसारको सर्व शून्यताकी प्राप्ति आ जायगी।

चतुर्थ दोष यह है कि अनुपलब्धि रूप हेतु प्रत्यक्षसे ही असिद्ध है। क्योंकि जीवका स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष होता ही है। स्वसंवेदन भी सुख दुःखादि रूप संवेदनसे प्रसिद्ध ही है।

(शङ्का)—ज्ञान अस्वसं विदित होते हैं वेद्य होनेसे। जो जो वेद्य होते हैं वे वे अस्वसंविदित होते हैं। जैसे कि घट ज्ञानवेद्य है (उपनय) अतः अस्वसंविदित है (निगमन) और जब कि ज्ञान अस्व संविदित है तो उसके द्वारा जीवकी किसतरह सिद्धि की जासकती है।

ऐसा कहना भी प्रलाप मात्र है क्योंकि ज्ञानकी स्वसंविदितता प्रमाणसे प्रसिद्ध है। ज्ञान स्वसंविदित है। अवभासनमें अपनेसे अतिरिक्त कारणान्तरोंकी अपेक्षाका अभाव होनेसे यहां हेतुको असिद्ध कहनेवाला भी सत्यभाषी नहीं कह जा सक्ता क्योंकि उक्त हेतु

सिद्ध ही है, कि ज्ञान अपने प्रकाशनके लिए अपनेसे भिन्न कारणान्तरोंकी अपेक्षासे रहित है। प्रत्यक्ष अर्थका गुण होते हुए अदृष्टका अनुपायिकरण होनेसे प्रदीपके समान जैसे दीप अपने आपको तथा दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता है।

दूसरे यदि ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे वेद्य मानोगे तो दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञानसे वेद्य मानना पड़ेगा। ज्ञान होनेसे इसी प्रकार तृतीयादि ज्ञान अन्य अन्य ज्ञानोंके जाननेमें ही लगे रहेंगे तो प्रकृत पदार्थके जाननेसे वञ्चित ही रह जायंगे।

तृतीय दोष यह है कि परोक्षज्ञानके द्वारा पदार्थोंका प्रकाशन भी नहीं हो सकता। यदि परोक्षज्ञानके द्वारा भी पदार्थोंका प्रकाशन हुआ करे तो दूसरे व्यक्तिका ज्ञान भी हमारे लिए परोक्ष है अतः उस ज्ञानसे भी पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये।

अपने परोक्ष ज्ञानसे पदार्थोंका प्रकाशन होता क्योंकि वह ज्ञान समवाय सम्बन्धसे अपनी आत्मामें रहता है और दूसरेके परोक्ष ज्ञानसे पदार्थ प्रकाशन नहीं होसकता है क्योंकि वह ज्ञान अपनी आत्मामें नहीं रहता। यदि ऐसा कहेंगे तो यह आपका कहना भी विचारशून्य है क्योंकि आप ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न मानते हैं।

चार्वाक तो उक्त कथन कदापि कर ही नहीं सकता क्योंकि वे आत्मा समवाय आदि कुछ नहीं मानते हैं सिवाय पृथ्वी आदि ४ भूतोंके।

उक्त सर्व कथनका सार यह है ज्ञान स्वसंवेदन मानना चाहिये और उस स्वसंवेदन ज्ञानसे जीवकी सिद्धि हो ही जायगी।

और भी देखा जाता है कि उसी समयका उत्पन्न बालक विना किसीके उपदेशसे अपनी माताके स्तनसे दूध पी निकलता है। बालकके दूध पीनेकी अभिलाषा विना प्रत्यभिज्ञानके हो नहीं सकती और प्रत्यभिज्ञान विना स्मरणके नहीं होता, अतः पूर्वानुभव अवश्य ही मानना चाहिये। कोई२ भूत आदि हो जाते वे किसी न किसी आदमीके ऊपर आकर अवश्य बोलते हैं कि मैं पहिले वह था " अब वहां हूं आदि तथा कोई कोई बच्चा वृद्ध युवा पुरुष भी अपने पूर्व भवकी सब बातें बतादिया करता है। यदि ४ भूतसे जीव बने होते तो शरीरके नष्ट होनेके साथ साथ ही जीव भी नष्ट हो जाता लेकिन दूसरे भव तक उसका सम्बन्ध जाता है तो ज्ञात होता है कि चार भूतसे जीव नहीं बना है।

उक्तञ्च— तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥

उसी दिनके उत्पन्न हुए बालककी स्तनमें स्वतः इच्छा होनेसे, राक्षस रूपमें किसीको देखनेसे, पूर्व भवकी स्मृति होनेसे और पञ्चभूतोंका अन्वयपर होनेके कारण जीव अनादिसिद्ध मानना ही चाहिये।

तथा च बहुतसे अनुमान जीवके साधक हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां कर्ता जो जीव उसके द्वारा योजित होकर काम करती हैं, क्योंकि वे (चक्षु आदि) करण होनेसे वसूला के समान यानी वसूला जैसे बढ़ईसे योजित होकर काम करता है उसी प्रकार इन्द्रियां भी जीवके द्वारा प्रेरित हो कर कार्यमें लगती हैं।

सांख्य जीवको मानते हैं परन्तु कूटस्थ नित्य मानते हैं। यह उनका मानना भी युक्तिबाधित है। क्योंकि जीवके सुख दुःखादिरूप पर्यायोंसे सदा विकृति होती रहती है। कभी सुख है तो कभी दुःख, कभी ज्ञानता है तो कभी अज्ञानता। जब जीवपर्यायोंसे विकृत होता रहता है तो उसे नित्य कैसे कहते हैं।

(शङ्का) आपने सुख दुःखादिरूप पर्यायोंसे जीवको विकृत सिद्ध करके नित्यताका खंडन किया है सो ठीक नहीं है क्योंकि सुख दुःख आदि सब पर्यायें जीवसे भिन्न रहती हैं। यदि अभिन्न मानोगे तो मोक्षके जीवको भी सुखी व दुःखी मानना चाहिये।

यह भी विना विचारे मुखमस्तीति वक्तव्यका अनुकरण करना है। क्योंकि यदि जीवसे सुखदुःख आदि भिन्न मानेंगे तो यह इस जीवके सुखदुःख हैं यह कैसे माना जा सकता है। और नित्य अनुपकारी होता है अतः वहां सुखादिका समवाय भी नहीं मानसकते। और यदि जीवका उपकार भी मानेंगे तो आप उसे जीवसे भिन्न मानेगे तो फिर वह प्रश्न जो कि सुखदुःखके प्रथक् माननेपर उठा था उठेगा। और यदि अभिन्न उपकार मानेगे तो फिर विकृत होनेसे नित्यता नहीं बनसकती और जो आपने मुक्त जीवको भी सुखी वा दुःखी होनेका प्रसंग दिया था सो भी ठीक नहीं है क्योंकि सुखदुःख आदि जीवसे अभिन्न हैं इसका जो आपने अर्थ निकाला सो आपकी बुद्धिकी बलिहारी है। अभिन्न कहनेसे आपने सर्वथा अभिन्नका पक्ष ग्रहण करलिया।

अब हम आपसे पूछते हैं कि सुखदुःखसे आप क्या लेते हैं? शारीरिक सुख या आत्मीय सुख जिनको कि दूसरे शब्दोंमें ऐहिक और पारलौकिक सुख भी कह सकते हैं। यदि सुखदुःखसे शरीरके द्वारा होनेवाले सुखदुःख लेते हैं जो कि आत्माको शरीरकी अवस्थामें ही अनुभूत होते हैं तो कारणके विनाश होनेपर कार्य विनष्ट होजाता है अतः शरीरसे होनेवाला सुखदुःख भी अपने कारण साता और असाताके अलग होनेपर अलग हो जायगा। अतः मोक्षमें रहनेवाले जीवको सुखी या दुःखीपनेका प्रसंग नहीं आसकता। असाता वेदनीयका प्रमत्त गुणस्थान तक बन्ध होता है तथा साताका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। असाता व साता दोनोंका ही १४ वें के कुछ भागोंतक उदय रहता है, अन्तके भागोंमें साता असातामेंसे एकका भी उदय नहीं रहता तथा साता असाता दोनोंका सत्व

भी १४ वें गुणस्थानतक रहता है। अन्तके द्विचरममें सातकी व्युच्छित्ति हो जाती है और अन्त समयमें असाताकी भी सत्व व्युच्छित्ति हो जाती है।

मुक्त जीव जब गुणस्थानातीत यानी गुणस्थानसे रहित हैं तो जब कि साता असाताका बन्ध, उदय, सत्वका भाव गुणस्थानोंमें ही पाया जाता है, सिद्ध अवस्थामें किसी भी कर्मका बन्धादि कुछ भी नहीं पाया जाता तो वहां सुखदुःखकी कल्पना किसीतरह भी नहीं हो सकती।

अब यदि आप द्वितीय पक्ष आत्मीय सुखका लेंगे तो निरपेक्ष दृष्टिसे आत्मीय सुखका कारण ज्ञान है वह ज्ञान मुक्त अवस्थामें सर्वथा निरावरण हो जाता है अतः वहां अनन्त सुख हो जाता है। दुःखका कोई कारण वहां उपलब्ध नहीं है जिससे कि सुखकी तरह दुःख भी माना जाय। उक्त युक्तिसे सुख दुःखका मोक्षमें भी प्रसंग देकर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर सके अतः जीवको सर्वथा नित्य मानना सर्वथा भ्रम मात्र है।

सांख्य लोग भी जीव मानते हैं लेकिन अकिञ्चित्कर मानते हैं यह उनका मानना भी युक्तिसंमत नहीं है क्योंकि संसारी अवस्थामें जीव कर्मका बन्ध करता ही है और जब कर्मका बन्ध करता है तो उसका फल भी अनेक प्रकारसे भोगता ही है तथा सांख्य जो प्रकृतिको कर्ता और पुरुषको भोक्ता मानता है वह पहिले दिखाया जा चुका है।

अतः सांख्य सिद्धान्त भी मान्य नहीं कहा जा सक्ता।

अब कोई जो जीवकी सन्तानको ही जीव मानते हैं उन्हे विचारना चाहिये कि संतान बिना सन्तानोंके नहीं रह सक्ती अतः सन्तानी अवश्य मानना चाहिये। सन्तानीसे सन्तानको पृथक् मानेंगे तो बहुतसे दोष आवेंगे। आत्माको जो व्यापक मानते हैं उनका मत भी परीक्षासह नहीं है।

(शङ्काकार) व्यापक आत्माको सिद्ध करनेके लिए यह अनुमान जब निर्दोष है तो आत्माको व्यापक क्यों नहीं मानना चाहिये। आत्मा व्यापक है। द्रव्य होते हुए अमूर्त होनेसे, जो जो द्रव्य होते हुए अमूर्त है वह व्यापक है जैसे आकाश द्रव्य होनेपर अमूर्त आत्मा है अतः व्यापक मानना चाहिये, यह अनुमान भी ठीक नहीं है क्योंकि अमूर्त होनेसे यहांपर अमूर्तका क्या अर्थ है। रूपादि जिसमें हो उसे मूर्त, और तद्विरुद्ध अमूर्त। यदि यह अमूर्तका अर्थ करोगे तो मनमें भी हेतु चला जायगा क्योंकि मन द्रव्य होकर रूपादि रहित है ही अतः मनको भी व्यापकता मानना चाहिये अतः उक्त हेतु अनैकान्तिक होनेसे आदरणीय नहीं है। यदि आप सब जगह न रहना मूर्त और सब जगह रहना अमूर्त मानते हैं तो हेतु भी व्यापकतार्थक है और साध्य भी व्यापकतार्थक है अतः साध्यसम होनेसे पुनः भी हेतु मान्य नहीं कहा जा सकता। व्यापकतामें बहुत खंडन

किया जा सकता है लेकिन यह प्रकरण प्रसंगगत है प्रधान नहीं अतः इस विषयमें इतना ही कहता हूं। कोई कोई महाशय आत्मा वटकीणका (बरीका फल) के समान मानते हैं उनका यह मानना न्याययुक्त नहीं है। क्योंकि सुखका सर्वाङ्ग रूपसे अनुभव होता है। आत्मा छोटी होती तो जहां २ पर आत्मा रहती वहीं वहीं आनन्द होता लेकिन सुख सम्पूर्ण सम्पूर्णमें होता है। कोई २ महाशय आत्माकी आशुवृत्ति (शीघ्रगति) बताकर उक्तकरका निकारण करदिया करते हैं लेकिन यदि आत्माकी शीघ्र गति होती तो भी एक समयमें आत्मा एक ही जगह रहेगी अतः जब एक स्थानपर आत्मा हो तो उस जगह और दूसरी जगहपर जब आत्मा पहुंच जाय तो दूसरी जगह सुख होना चाहिये अतः सुखके व्यवधानका दोष आता है इस लिए आत्मा छोटी भी नहीं माननी चाहिये किन्तु अपने २ शरीरके परिमाण मानना चाहिये। श्री नेमिचन्द्राचार्यने आत्माका स्वरूप ऐसा कहा है कि—

अट्ठविहकम्म वियला सीदीभूदा णिरञ्जणाणिच्चा।
अट्ठगुणाकिद किच्चा लोयग्गणि वासिणो सिद्धाः॥

शुद्ध आत्मा आठ प्रकारके कर्मों (ज्ञान, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय) से रहित है। शान्तिस्वरूप (वीतराग) है क्योंकि आत्माकी शान्तिको रागद्वेष सहित अवस्था भी भंग करती है, मिथ्या दर्शनादिसे रहित है नित्य है। अष्ट गुण (ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु) कर सहित है। कृतकृत्य यानी कुछ कार्य करनेको बाकी नहीं है। और लोकके अग्रभागमें स्थित है तथा सिद्ध है।

यहां जो आत्माके आठ कर्मोंसे रहित आदि विशेषण दिये हैं वे दूसरोंकी परिकल्पित तथाविध आत्माके निराकरणके लिए हैं क्योंकि विशेषण हमेशह व्यवच्छेद रूप होता है जैसे कि काला घोड़ा। यहां जो घोड़ेका काला विशेषण है वह अन्य लाल पीले भूरे चितकबर आदि रंगोंसे युक्त घोड़ोंसे काले घोड़ेको अलग बतलाता है।

दूसरे लोग शुद्ध आत्माका ऐसा ऐसा स्वरूप मानते हैं—

सदाशिवः सदामुक्तः सांख्यो मुक्त सुखोज्झितं।
मस्करी किलमुक्तानां मन्यते पुनरागतिम्॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो योगश्च मन्यते।
कृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनं॥

अर्थः—भावार्थः—सदाशिव आत्माको हमेशह कर्मरहित अनुपायसिद्ध मानते हैं उनका स्वरूप सिद्धान्त यही है कि आत्मा कर्मोंका भेदक नहीं है सदामुक्त होनेसे, यह (आत्मा) सदामुक्त है, अनुपाय सिद्ध होनेसे, आत्मा विना उपायसे सिद्ध है आदि सिद्ध होनेसे, यह

अनादि सिद्ध है तनुकरण भुवनादिके बनानेका निमित्त होनेसे, तनुकरण भुवनादि ईश्वर हेतुक हैं कार्य होनेसे, इस अनुमान मात्रासे वे आत्माको सदा मुक्त सिद्ध करते हैं लेकिन जिस तरह मकानकी कमजोर नींव खुद ही नहीं गिरती है बल्कि और अपने ऊपरके मकानको भी लेकर गिरती है उसी तरह कार्यत्व हेतु असिद्ध होकर आत्माके कर्मरहितत्वका पतन करा देता है क्योंकि कार्यत्वका आपको क्या अर्थ अभीष्ट है। १ स्वकारण सत्ता समवाय, २ अभूत्वाभावित्व, ३ अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धयुत्पादकत्व, ४ कारणान्तरानुविधायित्व, इन चार विकल्पोंके और भी उत्तरविकल्प बहुतसे होते हैं। विशेषतया प्रमेयकमलमार्तण्डमें खण्डन किया है। यहां लेख वृद्धिके भयसे नहीं लिखा जाता है अतः आत्माको अकर्मकत्वकी सिद्धि नहीं होती। सांख्य मुक्तात्माको सुख रहित मानते हैं। पहिले इसका खंडन किया जा चुका है इसीलिए आचार्यने शुद्ध जीवके लक्षण प्रतिपादन करते समय शीतीभूत विशेषण दिया है। मस्करी मुक्त जीवका पुनः आगमन मानते इसीका निषेध करनेके लिए आचार्यने निरञ्जन विशेषण दिया है। बुद्ध व योगानुमती आत्मको क्षणिक तथा निर्गुण मानता है इसीको निषेध करनेके लिए आचार्यने नित्य विशेषण दिया है। ईश्वरवादी ईश्वरको कर्तृत्व मानते हैं इसके निषेधके लिए कृतकृत्य विशेषण दिया है। मण्डली मतवाले जीवकी हमेशह ऊर्ध्वगति ही मानते हैं इसके निषेधके लिए आचार्यने लोकाग्र निवासी ऐसा विशेषण दिया है।

इस उक्त प्रकरणमें जीवकी सिद्धि परमतानुयायियोंके असत्य कल्पित लक्षणके खण्डन पूर्वक की गई है और आवश्यकता भी बतलाई है।

पुद्गलकी आवश्यकता और सिद्धिः

अब अजीवका वर्णन क्रमप्राप्त है अतः उसका वर्णन करना चाहिये।

अजीवके पांच भेद हैं—१ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश, ५ काल। अब प्रत्येकका वर्णन कहते हैं। इन पांच भेदोंका प्रथक् प्रथक् वर्णन करना ही अजीवका वर्णन होगा क्योंकि अवयवके वर्णनसे अवयवीका वर्णन हो जाता है जैसे तना, शाखा, टहनी, पत्ता आदि वृक्ष सम्बन्धी अवयवोंका वर्णन करना ही वृक्षका वर्णन है।

पुद्गल द्रव्यका लक्षण "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" ऐसा किया है। जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णसे सहित हो उसे पुद्गल कहते हैं।

पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः यह पुद्गल शब्दकी निरुक्ति है।

स्पर्शादिकी निरुक्ति निम्न प्रकार है। "स्पृश्यते स्पर्शः, यानी जो छुआ जाय, इसी

प्रकार रस्यते रसनमात्रं वा रसः, गन्ध्यते गन्धमात्रं वा गन्धः, वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः" की निरुक्तियां हैं।

पुद्गल द्रव्य अनन्तगुण समूह स्वरूप है। यहां भी जीव द्रव्यकी तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी सिद्धि होनेसे द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित होता है। जीव तथा पुद्गल द्रव्यका अनादिकालसे आपसमें सम्बन्ध होता चला आ रहा है जैसे कि सुवर्ण जो कि खानसे तुरन्त निकाला जाता है, किट्टिमा कालिमा अंतरङ्ग मलसे लिप्त होता है और अग्नि आदिके संसर्गसे वह मैल दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार जब इस जीवके पूर्वोपात्त कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है और संवरके बलसे आनेवाले कर्मोंका आना रुक जाता है तब सम्पूर्ण कर्मका क्षय होजानेसे जीवकी मुक्ति होजाती है तो संसारी अवस्थामें जीवकी पूर्वपर्यायका विनाश होनेसे व्यय, नवीन पर्यायके उत्पन्न होने उत्पाद और जीवत्व सदा ही रहना है अतः ध्रौव्य, ये तीनों ही गुण जीव द्रव्यमें अच्छी तरहसे घटित हो जाता है अतः द्रव्यका लक्षण जीव द्रव्यमें सिद्ध होता है।

(शङ्काकार) जब कि कर्मोंके अभाव होनेसे मुक्त जीवोंके शरीर रहता ही नहीं है तब फिर मुक्त जीवमें उत्पादादि कैसे होंगे।

यह भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्त जीवोंके अगुरुलघु गुणके द्वारा षट् स्थान पतित हानि वृद्धिसे उत्पादादि बन जावेंगे।

संसारी जीवोंमें इस तरह भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य बन सके हैं।

पुद्गलोंमें पूर्वपर्यायके विनाशसे और उत्तर पर्यायके प्रादुर्भावसे उत्पाद व्यय बन जावे हैं। कभी भी पुद्गलका सर्वथा विनाश नहीं होता अतः ध्रौव्यता भी रहती ही है।

दूसरे जो पुद्गलमें स्पर्श रस गन्ध वर्ण गुण पाये जाते हैं वे सर्वथा एकसे नहीं रहते, स्पर्श कभी कोमलता, कभी कठिनता, उष्णता, शीतता, लघुता, गुरुता, स्निग्धता, रूक्षता इन आठ तरहसे परिणत होता रहता है। रसमें चिरपरा, कडुआ, खट्टा, मीठा, कषायला ये पांच भेद हैं तथा गन्धमें दुर्गन्ध सुगन्ध इस तरह दो। वर्णमें नील, पीत, श्वेत, श्याम, लाल ये पांच भेद हैं। इन बीस भेदोंके सिवाय विस्तारसे उत्तर भेद संख्यात असंख्यात अनन्त भी हो सकते हैं।

(शंका) जब कि लोक असंख्यातप्रदेशी है तो उसमें अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कंध कैसे आ सक्ता है।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक एक आकाशके प्रदेशमें भी सूक्ष्म परिमाणसे परिणत अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध आ सकता है ऐसा आगममें कहा है। पुद्गल द्रव्यकी शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत ये १०

मुख्य पर्याय हैं। भाषात्मक और अभाषात्मक इस तरह शब्द दो तरहके होते हैं। भाषात्मक भी दो भेद वाला १ अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक। अक्षरात्मकके प्राकृत संस्कृत देशभाषा आदि अनेक भेद हैं। अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रियादिकोंमें और अर्हन्त देवकी दिव्य-ध्वनिमें पाई जाती है। भाषात्मकके सभी भेद परके प्रयोगसे होते हैं अतः प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके होते हैं। एक प्रायोगिक दूसरे स्वाभाविक। मेघादिककी ध्वनि स्वभाविक होती है और प्रायोगिकके १ तत २ वितत ३ घन ४ शौषिर ये चार भेद हैं। विस्तृत चर्मके शब्दको तत, सितार, सारङ्गी आदिकी आवाज़को वितत, घंश आदिकी ध्वनिको घन, और हवासे जो शंख आदिककी आवाज़ होती है उसे शौषिर कहते हैं।

बन्ध दो प्रकारका है—एक स्वाभाविक दूसरा प्रायोगिक। सूक्ष्मता भी दो तरहकी होती है—एक अनन्त दूसरी आपेक्षिक। स्थूलताके भी यही दो भेद समझना। संस्थान (आकृति) नियत स्वरूप, अनियत स्वरूपसे दो भेद वाला है। भेद पृथक् भावको कहते हैं और वह उत्करपूर्णादि भेदसे ६ प्रकारका है। तम अन्धकारको कहते हैं। छाया आवरणको कहते। जिसकी उष्ण प्रभा हो उसे आतप कहते हैं और यह सूर्य या अग्निसे उत्पन्न होता है। जिसकी प्रभा उष्ण नहीं होती है उसे उद्योत कहते हैं, यह चन्द्रसे उत्पन्न होती है। कहा भी है कि—"आदावो होदि उण्ह सहियपहा"

"उण्हूण पहा हु उज्जो ओ"

अर्थात् उष्णप्रभा सहित आतप और उष्णप्रभा रहित उद्योत होता है, ये पुद्गलके १० भेद हैं।

पुद्गलके इस प्रकारसे भी भेद किये जासकते हैं। मूलमें पुद्गल दो प्रकारका है—एक स्कंध दूसरा अणु।

जिसमें उठाना रखना आदि क्रियाओंका व्यवहार हो और स्थूल हो उसे स्कंध कहते। द्व्यणुक आदिमें रूढ़िके वशसे लक्षण बिना घटित होते हुए भी स्कंधता मानी गई है। जो सिर्फ एक प्रदेशवाला हो उसे अणु कहते हैं। यह अणु अस्मदादि प्रत्यक्षगोचर नहीं है। सर्वज्ञ भगवान् ही इसे जानते हैं। प्रत्येक अणु छ कोण वाला है और आकाशके एक प्रदेशमें रहनेवाला है। इसमें अत्यन्त सूक्ष्मता होनेसे आदि अंत मध्यकी व्यवस्था नहीं की जा सकती क्योंकि जो ही इसका आदि है वही मध्य और अन्त है जैसे कि किसीके एक पुत्र हो तो उससे पूछा जाय कि तुम्हारा सबसे बड़ा पुत्र कौन है तो वह उसे ही बड़ा छोड़ और मध्यम पुत्र बतलावेगा। पुद्गल द्रव्यकी सिद्धिके लिए सर्वतः प्रथम यह उचित है कि अणुकी सिद्धि कर ली जाय। अणुकी सिद्धि हो जाने पर फिर बड़ासे बड़ा भी स्कन्ध सिद्ध किया जा सकता है। अणु यद्यपि प्रत्यक्षसे नहीं दिखलाई देता तथापि

इसका अभाव भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि बहुतसे पदार्थ कालान्तरित (जो वर्तमान कालमें नहीं पाये जाय) हैं जैसे राम सीता लक्ष्मण रावणादि देशान्तरित (जिस देशमें जाननेवाला मौजूद हो उस देशमें न पाये जांय) जैसे सुमेरु हिमालय आदि, इन पदार्थोंकी जैसे अनुमान व आगम प्रमाणके द्वारा सिद्धि की जाती है। अणुकी भी उसी तरह अनुमानसे व आगमसे सिद्धि की जासकती है, अणु है क्योंकि यदि अणु नहीं होता तो संसारमें स्थित अणु पिण्ड स्वरूप ये पदार्थ देखनेमें नहीं आते। इस अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुसे अणुकी सिद्धि की जाती है। आगम तो इसके लिए साक्षी है ही।

कोई कोई परमाणुको सिर्फ कारण ही मानते हैं यह उनका मानना अनुचित ही है क्योंकि "भेदादणु" अर्थात् पदार्थोंमें भेद करनेसे अणु होता है। किसी मिले हुए पदार्थका यहां तक भेद हो जाय कि जिससे फिर उसके भेद न हो सकें तो वह जो अन्त दशापन्न पदार्थ होगा, वह ही परमाणु बोला जायगा अतः भेदके द्वारा अणुके उत्पन्न होनेसे अणुको कार्यता भी है। परमाणुमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी संघटित हैं क्योंकि उसमें स्निग्धादि गुणोंका उत्पाद और व्यय होता रहता है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे परमाणुकी न कभी उत्पत्ति होती है न कभी नाश होता है, अतः परमाणुमें द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। स्पर्श रस आदि गुणोंका समुदाय ही परमाणु है अतः परमाणुमें स्पर्श आदिके भेद होनेसे भेद भी हैं और परमाणु फिर विभाग नहीं होता अतः परमाणु अभेद स्वरूप भी है। परमाणु सूक्ष्म परिमाणवाला है इस लिए कथंचित सूक्ष्म है और द्व्यणुकादि-सम्बन्ध होनेसे स्थूल स्कन्ध रूप होजाता इस लिए कथंचित् स्थूल भी है। परमाणुका द्रव्य रूपसे कभी विनाश नहीं होता अतः नित्य है और स्कन्ध रूपमें अनेक प्रकारसे इसका परिवर्तन होता रहता है अतः कथञ्चित् अनित्य है। कार्यरूप अनुमानसे परमाणु जाना जाता है अतः कार्यलिङ्ग है और प्रत्यक्ष ज्ञान विषय पनेकी अपेक्षा कार्यलिङ्ग नहीं है अतः मानना चाहिये कि:—

अणुमें भी अनेकान्तताका अच्छा साम्राज्य है।

स्कन्धके विषयमें कुछ विशेष कहना नहीं है॥

स्कन्धके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश इस तरह तीन भेद हैं।

स्कन्धके पृथ्वी, अप, तेज, वायु ये चार भेद भी हैं।

नैयायिक लोग पृथ्वी, जल, वायु, अनल (अग्नि) को अलग २ स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। पृथ्वीमें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण ये ४ गुण मानते हैं और पृथ्वीका लक्षण गन्धवती यानी गन्धयुक्त है ऐसा मानते हैं। जलमें स्पर्श रस वर्ण ये तीन ही गुण मानते हैं और शीतस्पर्शवता आपः शीत स्पर्शवाला जल है यह जलका लक्षण मानते हैं। अग्निमें वर्ण और

स्पर्श ये दो गुण मानते हैं और लक्षण उष्णस्पर्शवत्तेजः ऐसा मानते हैं। वायुमें रूप भी नहीं मानते सिर्फ स्पर्श ही गुण मानते हैं और रूप रहित स्पर्शवान् वायु ऐसा वायुका लक्षण कहते हैं। यह इनका मानना अविचारित ही है क्योंकि पृथ्वी आदि अलग पुद्गलसे भिन्न पदार्थ नहीं है। हम देखते हैं कि पृथ्वी रूप जो काठ है वह जलकर अग्नि रूप हो जाता है तथा बारूद दियासलाई आदिमें अग्निका उष्ण स्पर्शवत् लक्षण नहीं भी है तथापि ये जलकर अग्नि रूप ही होजाते हैं और अग्नि जल चुकनेके बादमें फिर पृथ्वी रूप हो जाती है। स्वाति नामक नक्षत्र विशेषमें वर्षा होते समय यदि जल विन्दु सीपमें पड़ जाय तो वही पार्थिव रूप मोती बन जाती है। जिस आहार भातको हम ग्रहण करते हैं वही पित्तरूप (उदराग्नि) परिणत हो जाती है अतः पृथ्वी आदि स्वतंत्र पदार्थ नहीं माने जा सकते तथा जो अपने पृथ्वीमें स्पर्शादि चारों ही, जलमें गन्ध विना तीन, अग्निमें रूपस्पर्श और वायुमें केवल स्पर्श माना था सो यह भी तुम्हारा मानना न्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिनमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है वे एक दूसरेके विना कभी नहीं रह सक्ते, इनका अविनाभाव किस तरहसे है और पृथ्वी आदिका जीव पुद्गलादि किस किसमें अन्तर्भाव होता है यह हम पदार्थोंकी व्यवस्था जहां निर्णय की है वहां लिख आये हैं अतः यहां पुनरुक्ति, लेख वृद्धि, समयाभाव, और निरर्थक होनेसे नहीं लिखते हैं। आशा है कि इस प्रकरणके जिज्ञासु जहां यह विषय लिखा गया है उन पत्रोंमें देखनेका कष्ट उठावेंगे।

परमाणुकी तरह स्कन्धमें पूर्व अपर अवस्था विनाश उत्पाद होने द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। ध्रौव्यता इनके सर्वथा नाश न होने सदा बनी ही रहती है।

पृथ्वी आदि पुद्गलत्वकी अपेक्षा आदि रहित हैं। उत्पत्तिकी अपेक्षा तो अनादि नहीं कह सक्ते क्योंकि उत्पत्तिवाला सादि ही होता, इस तरह पुद्गल द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धिका विषय समाप्त किया।

सारांश—पुद्गल द्रव्य यदि नहीं होगी तो संसारकी प्राणभूत पदार्थ व्यवस्था नहीं बन सक्ते अतः पुद्गल द्रव्यकी आवश्यकता है। परमाणुके सिद्ध होनेसे पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि है ही। अतः जीवद्रव्यवत् पुद्गलद्रव्यको भी मानना चाहिये।

धर्म अधर्मका निरूपण तथा आवश्यक्ता।

उक्त कथनमें पुद्गलकी अच्छी तरहसे सिद्धि की गई है। यहां धर्म अधर्मके विषयमें लिखते हैं—प्रथम धर्मद्रव्यका लक्षण श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इस प्रकार किया है—

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढ पुट्ठं पिहुलमसंखादिय पदेसं ॥ १ ॥

अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहि परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ २ ॥
उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोये।
तह जीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणे हि ॥ ३ ॥

भावार्थ—धर्मास्तिकाय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्दसे रहित हैं अतएव अमूर्त है, सकल लोकाकाशमें व्याप्त है, अखण्ड विस्तृत और असंख्यात प्रदेशी हैं, षट्स्थान पतित वृद्धिहानि द्वारा अगुरुलघु गुणके कारण अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकतासे उत्पाद व्यय स्वरूप है। स्वरूपसे कदापि च्युत न होनेके कारण नित्य है। गति क्रिया युक्त जीव पुद्गलोंके गमनमें सहायक हैं। आप किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है अतः अकार्य है। जल मत्स्यादिकोंके गमनमें स्वयं न चलकर जैसे सहकारी है उसी प्रकार जीव पुद्गलोंके साथ स्वयं न गमन करता हुआ उनके (जीव पुद्गलके) गमनमें सहकारी मात्र है। यहां यह लक्ष्य रखना चाहिये कि धर्म अधर्म शब्दका उपयोग इस अर्थमें भी आता है। लोकमें पुण्य पापको भी धर्म अधर्म कहते हैं जिसमें कि धारीति धर्मः न धर्मः अधर्म ये व्युत्पत्तियां हैं। ये धर्म अधर्म शब्द गुणवाचक हैं लेकिन इस प्रकरणगत धर्म अधर्म शब्द द्रव्यवाची हैं।

धर्म द्रव्यका स्वरूप संक्षेपसे यह है कि जीव पुद्गलोंको गमनमें सहकारी मात्र हो वह धर्म, और जो ठहरानेमें जीव पुद्गलोंको सहकारी हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। जिस तरह पवन पताका उड़ाता है पानकी नावको चलाती है या मोटर मनुष्यको स्थानान्तरपर पहुंचाती है उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव पुद्गलोंके गमनमें सहकारी नहीं है क्योंकि "निष्क्रियाणि" इस सूत्रसे धर्मादि द्रव्योंको निष्क्रिय बतलाया हैं। जो स्वयं क्रियायुक्त नहीं वह दूसरोंको क्रिया नहीं करा सकती किन्तु धर्म द्रव्य उदासीन निमित्त कारण है। इसी तरह अधर्म द्रव्यकी बावत भी समझना चाहिये। अधर्मको भी जीव पुद्गलोंकी स्थितिमें उदासीन निमित्त कारणता है।

शंका—जब कि धर्म अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य क्रिया रहित हैं तो उत्पाद नहीं होना चाहिये, उत्पाद नहीं होगा तो व्यय भी नहीं होगा क्योंकि जो २ उत्पादवाले हैं वे ही व्ययवाले देखे गये हैं। घटादिक जो व्ययवाले नहीं हैं वे उत्पादवाले भी नहीं हैं जैसे कि आत्मा।

अन्यच्च, उत्पादन होना ही व्ययके अभावका सूचक हैं क्योंकि "कार्योत्पादः क्षय हेतुः" कार्यका उत्पाद है वही क्षयका कारण है। उत्पाद व्यय न होनेसे इनमें द्रव्यका लक्षण घटित नहीं हो सकता। यह कहना भी युक्त संगत नहीं है। यद्यपि क्रिया निमित्त उत्पाद यहांपर नहीं भी है तथापि स्वपर निमित्त उत्पाद यहांपर अच्छी तरह घटित हो

जाता है। स्व निमित्त उत्पाद व्यय अगुरु लघु पूर्व षड्रूप गुण हानिसे होता है पर निमित्त उत्पाद व्यय अश्वादिको गति स्थिति अवगाह देनेसे होता है। धर्म अधर्मका सद्भाव उनके कार्य द्वारा किया जाता है क्योंकि कार्यके सद्भावमें कारणका सद्भाव अवश्यंभावी है जैसे कि धूमके सद्भावमें अग्निका होना अवश्यंभावी है। जब कि जीव पुद्गलोंमें गति स्थिति देखते हैं तो उस गति स्थितिका कोई न कोई कारण अवश्य होगा और वह कारण अभी धर्म ही है यानी गतिका कारण धर्म और स्थितिका कारण अधर्म है।

शंका—जब कि गति स्थितिका कारण पृथ्वी भी हो सक्ती हैं तो अदृष्ट धर्मा-धर्मकी कल्पना नहीं करना चाहिये। ऐसा भी नहीं कहसके, क्योंकि पृथ्वी जल आदि आश्रय रूप है अतः गति स्थिति हेतुक विशेष कारण धर्म अधर्म मानना ही चाहिये।

शंका—आकाश द्रव्य सर्व व्यापक है अतः आकाश ही गति स्थितिमें साधारण निमित्त कारण हो सक्ता है। धर्म अधर्म माननेकी पुनरपि आवश्यक्ता नहीं है, ऐसा नहीं कह सके क्योंकि आकाशका अवगाहन उपकार है अन्यका यानी धर्माधर्मका उपग्रह अन्य यानी आकाशका नहीं हो सक्ता अन्यथा किसी भी पदार्थकी सुव्यवस्थिति न हो सकेगी।

अन्यच्च— यदि आकाशको गति हेतुका कारण मानोगे, आकाश अलोकाकाशमें भी है। वहां पर भी इसको गति स्थिति हेतुता प्राप्त होकर जीव पुद्गलोंका गमन हो जायगा तथा च लोकालोकका विभाग नहीं हो सकेगा। अतः मानना चाहिये कि धर्म अधर्म द्रव्य हैं। लोकालोक विभागकी धर्म अधर्मके विना उत्पत्ति न होनेसे यहां लोकालोक विभाग रूप हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि लोकालोक विभागका अनुमापक हेत्वन्तर उपस्थित है। लोक अलोकका विभाग है क्योंकि लोक सान्त है और अलोकाकाश अनन्त रूप है, कोई ऐसा कहे कि लोक सान्तरूप नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि लोक सान्त है सान्त विशेष होनेसे मकानादिककी तरह।

इस तरह लोककी सान्तता सिद्ध हुई। सारांश यह है कि धर्म अधर्मकी सिद्धिके लिये लोकालोक विभागान्यथानुपपत्तिरूप हेतु है। लोकालोक विभागके लोकस्य सान्तता हेतु है और लोककी सान्तता सिद्ध करनेके लिये स्वता विशिष्ठत्व हेतु है। स्वता विशिष्टत्व प्रत्यक्षागम्य ही है क्योंकि जो २ स्वता विशेष विशिष्ट हैं वे २ सान्त हैं और जो २ सान्त हैं वे २ विभाग युक्त हैं। जबकि विभाग सिद्ध हो गया तो इस अनुमानसे धर्म अधर्म है। लोकालोकको अन्यथा (धर्म अधर्मके अभावमें उत्पत्ति न होनेसे) धर्म अधर्मकी सिद्धि हो ही जाती है। अतः धर्म अधर्मका सद्भाव स्वीकार करना ही चाहिये।

आकाश द्रव्यकी आवश्यक्ता और सिद्धि।

आकाशका लक्षण जीवादिक द्रव्योंको अवगाहन देना है अर्थात् जो सर्वव्यापी अखण्डित और सबको अवकाश देनेकी सामर्थ्य वाला है उसे आकाश कहते हैं। को-

कान्ते धर्माधर्मे द्रव्याणयमासौ लोकः यानी जितने जीवादि पदार्थ देखे जांय उसे लोक कहते हैं। जहांपर धर्माधर्म द्रव्य नहीं है वहांके आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

शंका—जिस तरह आप धर्माधर्मजीवादि द्रव्यका आधार आकाश मानते हैं तो आकाशका भी आधारान्तर (अन्य आधार) मानना चाहिये या आकाशके सदृश जीवादिकको भी स्व प्रतिष्ठित मानिये, ऐसी शंका नहीं कर सक्के। क्योंकि आकाश सर्वतो अनन्त है अतः उसको कोई आधारान्तर कल्पित नहीं किया जा सक्ता।

शंका—आधार आधेयभाव पूर्व उत्तर वर्तियोंका होता है तो जब धर्मादिका आकाशमें आधार आधेय भाव है तो पूर्वोत्तर भाव भी पाया जाना चाहिये और ऐसा माननेसे द्रव्योंकी अनादिताका खंडन होता है. ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि पूर्वोत्तर वर्तियोंका ही आधार आधेय भाव होना, यह कोई नियम नहीं है। आत्मामें ज्ञानदर्शनादि या घटमें रूप रसादिक इन समसमयवालोंमें भी आधार आधेय भाव देखा जाता है। आकाशमें " सद्द्रव्य लक्षणं " " गुणपर्ययवद् द्रव्यं " आदि तीनों ही द्रव्यके लक्षण सम्यक् रीत्या संघटित होते हैं और वह कैसे सो अगाडी दिखावेंगे।

शंका—आकाशका जो अवगाह देना लक्षण किया सो अतिव्याप्तिदोष दूषित है क्योंकि " लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरणं अतिव्याप्तिः " जिस धर्मसे सहित लक्ष्य होता है, उस धर्मको लक्ष्यतावच्छेदक नामसे कहते हैं और लक्ष्यतावच्छेदकसे अवच्छिन्न है उसे लक्ष्य कहते हैं। यहां लक्ष्यतावच्छेदक आकाशत्व है तथा लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न आकाश है और यस्याभावः सप्रतियोगिः इस नियमके अनुसार आकाशका प्रतियोगि (प्रतिपक्षी) मकान धर्म अधर्मादि भी जीव पुद्गलोंको अवगाह देते हैं फिर आकाश हीका यह लक्षण कैसे हो सकता।

उक्त शंका नहीं करनी चाहिये। प्रथम तो आपने जो अति व्याप्तिका लक्षण बताया वही ठीक नहीं है क्योंकि मानलीजिए अश्व (घोड़े) का हमने सास्नादिमत्व यह लक्षण किया तो आपका उक्त अतिव्याप्तिका लक्षण यहां घट ही जाता है यानी लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न हुआ अश्व उसका जो प्रतियोगी गौ उसमें सास्नादिमत्व रह गया लेकिन अश्वका सास्नादिमत्व लक्षण करना यह असंभव दोष कहा है क्योंकि "लक्ष्यतावच्छेदक व्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्वं" ऐसा असम्भवका लक्षण किया है। अश्वका सास्नादिमान् लक्षण करने पर लक्ष्यतावच्छेदक अ[illegible] अश्वत्व व्यापकीभूत (यानी अश्वत्व जिनमें रहे) हुए सब अश्व, उनमें जिस[illegible] रूप प्रतियोगित्व हो सो सास्नादिमत्वका अभाव है अतः अश्वका सास्नादिमत्व लक्षण है वह जिस धर्मको लेकर अति व्याप्ति दोषसे अतिव्याप्त उसी

धर्मका अवलम्बन करके असंभव दोषसे भी दुष्ट है अतः आपको अपने उक्त अति व्याप्तिके लक्षणमें लक्ष्यतावच्छेदक सामानाधिकरण्ये सति इतना विशेषण और मिलाना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे अति व्याप्ति और असम्भवमें ऐक्य नहीं आसकता। उक्त उदाहरणमें ही जिसमें कि अश्वका सास्नादिमत्व लक्षण कहा निदर्शित अति व्याप्तिका लक्षण बतालेनेसे लक्षण ही नहीं जाता क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदकका समानाधिकरण जो लक्ष्य उसमें रह कर फिर जो लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिमें जो लक्षणका रहना है उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। लक्ष्यतावच्छेदक अश्वत्व इसका समानाधिकरणी जो अश्व उसमें सास्नादिमत्व रहकर फिर लक्ष्यतावच्छेदक समानाधिकरण प्रतियोगि गायमें रहता तो सास्नादिमत्व अतिव्याप्त होता लेकिन रहता ही नहीं है अतः यहां असम्भव दोष ही आवेगा।

और जब कि आपसे अतिव्याप्तिके लक्षणमें ही गल्ती होती है तो आप आकाशके अवगाहित्व लक्षण कैसे अतिव्याप्त सिद्ध करेंगे।

(शङ्काकार)—अस्तु, हमने आपके द्वारा स्मृत कराया ही अति व्याप्तिका लक्षण स्वीकार किया किन्तु महाशयजी क्या अति व्याप्तिके विस्मरणसे अशुद्ध लिखे हुए लक्षणको ही शुद्ध करके अति व्याप्ति-दोषका निरावरण करना चाहते हैं। इन सबसे तो केवल एक लक्षण ही शुद्ध किया गया, अति व्याप्तिका निराकरण तो हुआ ही नहीं।

आकाशका अवगाहित्व लक्षण मकान धर्म अधर्ममें भी पाया जाता है इसलिए अति व्याप्त है। और दोष दुष्ट लक्षणसे कभी भी लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सक्ती।

जैनी—आपका उक्त कटाक्ष भी आपकी आत्मदौर्बल्यका प्रदर्शक है। आकाशका अवगाहित्व लक्षण प्रधान है। पृथ्वी धर्म अधर्मादिके अन्य अन्य लक्षण हैं जैसे पृथ्वीका स्पर्श रस गन्ध वर्णवत्व, धर्मका गति हेतुत्व, अधर्मका स्थिति हेतुत्व।

अतः अवगाह देना लक्षण आकाशका ही है। धर्म, अधर्म, पृथ्वी आदि सभीको अवगाह नहीं देते। दूसरे अवगाह देना इनका लक्षण भी नहीं है अतः आकाशके अवगाहित्व लक्षणमें शंका नहीं करना चाहिये।

यदि आकाशका लक्षण अवगाह देना ही है तो अलोकाकाशमें तो अन्य द्रव्योंका अभाव है अतः वहां अलोकाकाश किसीको भी अवगाह नहीं देता अतः आकाशके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदक समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं ऐसा अव्याप्तिका लक्षण माना है सो यहां अच्छी तरहसे घटित होता है। यहां लक्ष्यतावच्छेदक आकाशत्व है तथा आकाशत्वका समानाधिकरणी हुआ आकाश, उसके अत्यन्ताभावका प्रतियोगि (यानी लक्ष्यका कुछ भाग)में लक्षणके रहनेसे अव्याप्ति दोष आता है सो यहां आकाशके कुछ भाग यानी लोकाकाशमें तो यह द्रव्यका लक्षण जाता है,

अलोकाकाशमें नहीं जाता अतः अव्याप्ति दोष दुष्ट होनेसे द्रव्यका लक्षण अलोकाकाशमें द्रव्यत्व नहीं सिद्ध करसक्ता।

ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अलोकाकाशमें अन्य द्रव्य ही नहीं है जिसको कि आकाश अवगाह दे। यदि किसी घड़ेमें पानी न रक्खा जाय तो घटका जल धारण धर्म नष्ट नहीं हो सकता इसी प्रकार यह दोष आकाशका नहीं है।

(शंका) जबकि अलोकाकाशमें काल द्रव्य ही नहीं है तो वहां वर्तना नहीं हो सक्ती। वर्तनाके विना उत्पाद व्ययका व्यवहार नहीं हो सक्ता और न नित्यताका ही व्यवहार हो सका है अतः वहाँ द्रव्यका लक्षण ही संघटित नहीं होता अतः याती अलोकाकाशको द्रव्य श्रेणीसे अलग कर देना चाहिये नहीं तो द्रव्यका लक्षण अव्याप्ति दोष दुष्ट मानना चाहिये। अलोकाकाश द्रव्यकी श्रेणीसे अलग तो किया नहीं जा सक्ता क्योंकि आकाशका विशेष भेद है। विशेष विना सामान्य रह नहीं सक्ता। यदि अलोकाकाशको द्रव्यकी श्रेणीमेंसे अलग कर देंगे तो आकाशका भी अभाव हो जायगा, आकाशके अभाव होनेपर अवगाह देनेकी शक्ति युक्तद्रव्यका अभाव होवेगा फिर धर्म अधर्म आदि कहांपर ठहरेंगी। तथा च सात नरक घनोदधिवलयके ऊपर हैं। घनोदधि वलय, घनवातवलयके ऊपर है और घनवातवलय आकाशके ऊपर है और आकाश स्वयं स्वप्रतिष्ठित है। इस सबका अन्य कारण आकाश ही है फिर आकाशका अभाव होनेसे यह सब व्यवस्था कैसे बनेगी।

ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि आकाशमें द्रव्यका लक्षण सुघटित ही है जैसे एक बड़े बांसके सिरेपर कुछ आघात करनेसे सब बासमें उसको आवाजसे क्रिया हो जाती है। बांसके एक होनेसे तथैव आकाशमें भी कथञ्चित एकत्व है अतः वहां भी एक देशीय आकाशमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो जायगा यानी लोकाकाशके आकाशमें काल द्वारा वर्तना है अतः उत्पादादि भी होंगे। उसी उत्पादादिका संबंध अलोकाशके आकाशमें भी हो जायगा। द्रव्य लक्षणके सुघटित होनेसे आकाशमें द्रव्यता सिद्ध हो गई अतः उक्त कोई दोष नहीं आसक्ता, आकाशके सद्भावका विनिश्चायक यही प्रमाण है कि सभी शब्दोंके वाच्य अवश्य हुवा करते हैं। अतः आकाश शब्द जब प्रसिद्ध है तो उसका अभिधेय अवश्य मानना चाहिये।

शंका—क्या जो २ शब्द हैं उन सभीके कुछ न कुछ वाच्य अवश्य हुआ करते हैं? यदि ऐसा है तो वन्ध्या पुत्र खरविषाण इनका भी कुछ न कुछ वाच्य होना ही चाहिये, ये कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वन्ध्या पुत्र इतना समस्त कोई पद नहीं है पृथक हैं और पृथक २ अभिधेयोंकी उपलब्धि भी होती है। अब कोई ऐसी शंका करे कि आकाश तो सर्वव्यापक है उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य कैसे होंगे

यह कहना भी अविचारीतरम्य ही है क्योंकि आकाश जब नित्य है तो ध्रौव्यता तो उसमें सदा बनी ही रहेगी। उत्पाद व्यय अगुरुलघुगुणकी अपेक्षासे हो जांयगे। द्रव्योंमें उत्पाद व्यय दो प्रकारसे होते हैं। एक स्व प्रत्यय और दूसरे पर प्रत्यय। अनन्त अगुरु लघु गुणोंके द्वारा षट स्थान पतित वृद्धि हानिसे पूर्व अवस्थाके अभाव होजानेको स्वद्रव्य व्यय कहते हैं और पहिलेकी तरह आगेकी पर्यायका आविर्भाव होनेपर स्व प्रत्यय व्यय कहते हैं पर प्रत्यय उत्पाद व्यय तो सुलभ ही हैं। यानी आकाश बहुतसी आकाश रूप परिणत बहुतसे जीवादिकोंको अवकाश देता है जब कि द्रव्य जिनका कि आकाशमें अवगाह होता है अनेक रूप हैं तो आकाश भी अपनी प्रथक २ शक्तियों द्वारा उन अनेक रूपजीवादिकोंको अवकाश देता है अतः अनेक रूपता आकाशको सिद्ध ही हैं। कोई २ "शब्द गुणकमाकाशं" यानी शब्द है गुण जिसका ऐसा आकाश है, ये आकाशका लक्षण मानते हैं। नैयायिक लोग शब्दको गुण मानते हैं। अपने चोवीस (२४) गुणोंकी संख्याके अन्दर शब्द नामक एक गुण है जिसका कि लक्षण "श्रोत्र ग्राह्यो गुणः" "श्रोत्र ग्राह्यत्वेन गुणवत्वं शब्दस्य लक्षणं" श्रोत्र ग्राह्यत्व विशेषण देते तो रूपरसादि गुण हैं अतः यहां अलक्ष्यमें शब्दका लक्षण जानेसे अति व्याप्ति दोष होता। और यदि श्रोत्र ग्राह्यत्व मात्र कहते तो शब्दत्व भी श्रोत्र ग्राह्य है किन्तु गुण न होनेसे शब्द नहीं कहा जासकता।

इस तरह शब्दका लक्षण मानकर नैयायिक शब्दगुणवाला आकाश है ऐसा कहते हैं किन्तु शब्द पौद्गलिक है यह हम पहिले सिद्ध कर आये हैं।

अतः जब कि शब्दको पुद्गलता है तो उसे गुण नहीं कह सकते। यदि द्रव्य भी गुण कहेंगे तो द्रव्य गुणमें संकर हो जायगा। इस लिए शब्द गुणवाला आकाश नहीं होसकता अतः जैनियोंका माना हुआ आकाशका लक्षण स्वीकार करना चाहिये सर्वत्र निर्विवाद होनेसे।

सारांश—वाच्यसे वाचककी सिद्धि होती है अतः आकाश वाच्यसे आकाश वाचककी सिद्धि हो ही जायगी और उपयोगीता उसकी अवगाह दानसे सिद्ध होती है। यदि आकाश माना जाय तो सभी द्रव्योंको निराश्रयताका प्रसङ्ग हो जायगा अतः आकाशको मानना ही चाहिये।

अब कालकी सिद्धि और आवश्यक्ता बतलाते हैं।

काल द्रव्यका स्वरूप पूर्वाचार्योंने यह दिखलाया है कि जो सब द्रव्योंके वर्तनामें उदासीन कारण हो उसे काल द्रव्य कहते हैं। जैसे धर्म और अधर्म द्रव्य पुद्गलों और जीवोंकी गति स्थितिमें बलात्प्रयोजक नहीं हैं उसी तरह काल भी बलात्कारसे किसी द्रव्यमें वर्तना

(परिणमन) नहीं करता जैसे कि गाड़ीके नीचे लगे हुवे पहिये स्वयं गाड़ीको नहीं खींच ले जाते बल्कि गाड़ी बैल आदिकोंसे खींची जाती है तो पहिले गाड़ीके चलनेमें उदासीन कारण हो जाते हैं। उसी प्रकार कालके वर्तनाकी दशा है। लोकाकाशके एक२ प्रदेशके ऊपर रत्नकी राशिके समान एक२ कालका अणु स्थित है।

उक्तं च—**लोयायास पदेसे इक्केके जे ठियाहु इक्केका।**
रयणाणं रासीमिव ते कालाणु असंख दव्वाणि ॥१॥

द्रव्यके जो दो या तीन लक्षण पहिले कहे थे वे दोनों ही काल द्रव्यमें अच्छी तरह घटित हो जाते हैं। काल द्रव्यमें अगुरु लघु गुणकी अपेक्षा षट् स्थान पतित और हानि वृद्धिसे उत्पाद और व्यय होते हैं। समय १ के अनन्तर कालमें भूत भविष्यत् वर्तमानका व्यवहार होता है। कुछ समयके बीत जानेसे (विनाश हो जानेसे) भूत कालका व्यवहार होता है। और तात्कालिक उत्पाद होनेसे वर्तमानका व्यवहार होता है और अनागतकी अपेक्षा भविष्यका व्यवहार होता है। इस तरह उत्पाद व्यय हो जाते हैं और कालपनेका सभी कालोंमें व्यवहार होता है अतः ध्रौवता है ही इसलिये सद् द्रव्य लक्षणं घटित हो ही जाता है। कालके साधारण गुण चेतनत्व सूक्ष्मत्व आदि हैं और असाधारण वर्तना हेतुत्व है। भूत वर्तमान आदि ये सब कालकी पर्याय हैं अतः द्वितीय द्रव्यका लक्षण "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" यह भी सुघटित ही है। कालमें भूत भविष्यत आदिका व्यवहार होता है अतः कालको अप्रदेशी और अनन्त समयवाला माना है।

शंकाकार—जब कि आप वर्तना कराना कालका लक्षण मानते हैं तो कालको सक्रिय मानना चाहिये यह उनका कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां निमित्त मात्रमें हेतु-कर्ताका व्यवहार है जैसे चश्मा मुझे दिखलाता है, या कण्डेकी अग्नि मुझे पढ़ाती है, इत्यादिमें कालका व्यवहार होता है। संसारमें भी मुखका समय मध्याह्न (दोपहर)का समय चाय्य समय ऐक्यप्रेसका समय पैसिंजरका समय इत्यादि जो व्यवहार होता है वह कालके सद्भावमें ही मुख्यतया होता है। दूसरेके द्वारा अवगतया दूसरेको ज्ञान कराने-वाली जो क्रिया विशेष उसको काल कहते हैं। जिस २ में कालका लक्षण जाय उसे १ द्रव्य मानना चाहिये इसलिये अनायास कालको द्रव्यता सिद्ध ही है। नैयायिकोंने कालका लक्षण " अतीतादि व्यवहार हेतुः कालः " ऐसा माना है।

शंकाकार—अतीतादिका व्यवहार करानेवाला आकाश भी है अतः आकाशको भी कालका लक्षण मानना चाहिये। क्योंकि आकाशके बिना अतीतादि शब्द नहीं बोले जा सक्ते अतः उक्त काल द्रव्यका लक्षण अति व्याप्ति दोष दुष्ट होनेसे प्रमाणीक नहीं माना जा सक्ता ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। व्यवहार हेतु शब्दका अर्थ निमित्त मात्र लेना चाहिये। कण्ठ तालु आदि जो अतीत आदि शब्दोंके अभिव्यंजक हैं उनसे भी अतिव्याप्ति

नहीं दे सके क्योंकि यहां अतीतादि व्यवहार हेतु शब्दका अर्थ निमित्त मात्र ही है, कालकी सिद्धिमें और भी बहुतसे प्रमाण दिये जा सके हैं। यह कालकी ही महिमा है कि नियत समयमें प्रकृतिका नियत कार्य होता है। चैत्र वैशाख ज्येष्ठमें ही आम आते हैं। मक्का सीमन भादोंमें ही पकती हैं आदि २।

यदि समय कुछ भी चीज न होती तो जो चीज जब चाहे उपज आती। समय न होता तो १० ही मह बाद स्त्रीके बालक नहीं पैदा होना चाहिये। वर्षा भी नियत समय पर नहीं होना चाहिये तथा जो आम्र, निम्बू, केला, जामुन, सेव, बेर आदि फल उत्पत्ति समयमें जैसे होते हैं उसी तरह हमेशाह रहना चाहिये। बच्चा भी जैसा उत्पत्ति समयमें होता है वैसा ही रहना चाहिये तथा वृक्ष आदि जितनी भी वस्तुयें उत्पत्ति अवस्थासे आगे २ वृद्धिको प्राप्त होती है वे सब पूर्व अवस्थामें ही रहनी चाहिये अतः ऐसी स्थिति होनेपर संसारके बहु भागका आघात हो जायगा इसलिये काल द्रव्य अवश्य मानना चाहिये। यह काल द्रव्यका व्यवहार सूर्य चन्द्र आदिकी गति हेतुक है। सूत्रकारजी ने भी कहा है “ तत्कृतःकाल विभागः ” यानी सूर्य नक्षत्र आदिकी गतिसे कालका विभाग होता है। संसारकी स्थिति जो प्रथम कालमें थी वह इस पंचम कालमें नहीं है और जो इस कालमें है या होगी वह षष्ठम कालमें नहीं होगी अतः इन सबमें भेद विनिश्चायक कालकी सिद्धि होती है। कालके दो भेद हैं व्यवहार काल और परमार्थ काल। व्यवहार कालके भूत वर्तमान भविष्य इस तरह तीन भेद होते हैं इस तरह कालकी प्रमाणता और सिद्धि जानना चाहिये। इस निबन्धके निर्माणका यही तात्पर्य है कि सम्यक् पदार्थ व्यवस्था सदा ही स्थितिको प्राप्त है।

इस प्रकार इस लेखमें निम्न रूपसे पदार्थ व्यवस्थाका निरूपण किया है। प्रथम २ दूसरोंके द्रव्य लक्षणकी सुचारुता अप्रमाणीक सिद्ध करके आर्हतमतानुयायियोंके द्रव्य लक्षणकी सिद्धि की है इसके पश्चात्पर स्वीकृत द्रव्य संख्याकी न्यूनाधिकता होनेसे संख्याभास बताकर जैनियों द्वारा स्वीकृत संख्याकी प्रमाणता सिद्ध की है तदनन्तर अन्यमतानुयायियोंकी द्रव्योंका लक्षण सदोष सिद्धकर स्याद्वादियोंके इङ्गित जीवादि षड्द्रव्योंका विशद निरूपण किया है।

यदि समाजका कुछ भी इस लेखसे उपकार हुआ तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

श्री सारसान अगार स्वामी बीनती हमरी यही।
शुभ ज्ञान हमको दीजिये अरु शान्तिमय कीजे मही॥
कर्तव्यमें निष्ठा सभीकी होय श्रीमन् सर्वदा।
अन्याय अत्याचारका उत्पाद नहिं होवे कदा॥१॥
शान्तिका साम्राज्य हो अरु नाश अत्याचारका।
सबके दिलोंमें भाव हो सत नीति धर्म प्रचारका॥२॥

षट्द्रव्यकी आवश्यकता और उनकी सिद्धि।

जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० २

(लेखक:—पं० अजितकुमार शास्त्री—मुंबई)

[illegible]—[illegible] विधिको बताया, संसारका ताप सभी मिटाया।
दुःखार्तप्राणी बहुबार तारे, ऐसे प्रभो! मैं [illegible] सारे॥

प्रियवर सज्जन समाज !

यह संसार एक महासागर है जिसके अगाध जलमें दृश्यमान नाना प्रकारके अनेक जन्तु हालाहलकी क्षारतासे, बडवानलकी तीव्र उष्णतासे तथा पारस्परिक कलहकी वेदनासे एवं भयावह महाकल्लोलोंके संघट्टसे असह्य पीडाको सहन करते हुए इधरउधर भटक रहे हैं किन्तु उस अपार पारावारकी शांतिदायिनी तटभूमिको न पानेसे उसी दुःखपारमें डूबे हुए और भी अधिक छटपटा रहे हैं। अथवा यह जगत एक महाउपवन है जिसमें चेतन तथा अचेतन दो प्रकारके वृक्ष लगे हुए हैं। जिस प्रकार अचेतन पौधे अनेक प्रकारके हैं तौर चेतन वृक्ष भी विविध प्रकारके लगे हुए हैं। कोई महा उन्नत हैं, कोई लघु आकारके हैं। एवं कोई रमणीय मनोहर हैं और कोई महा असुन्दर हैं।

सारांश यह है कि यह संसार एक विशाल आश्चर्यभवन या अजायबघर है. जहां पर अनेक प्रकारके समस्त पदार्थ एकत्रित किये गये हैं। अस्तु।

अब विचार इस विषय पर करना है कि जिसको सभी लोग जगत कह रहे हैं वह जगत वस्तुतः क्या पदार्थ है ? और उसमें कितने प्रकारके पदार्थ विद्यमान हैं ?।

जिस समय हम सामने यह पहला प्रश्न उपस्थित करते हैं उस समय हमको चारों ओरसे एक स्वरमें यही उत्तर मिल जाता है कि "दृश्यमान-तथा अनेक प्रकारसे ज्ञायमान नाना पदार्थोंका समुदाय ही जगत है" यद्यपि इस उत्तरके विशेष विशेष अंशोंमें पारस्परिक अनेक विवाद हैं किन्तु सामान्य उत्तर समस्त पुरुषोंका समान ही है। अस्तु।

परन्तु जिस समय द्वितीय प्रश्न उपस्थित किया जाता है उस समय हमको अनेक उत्तर नाना प्रकारसे प्राप्त होते हैं। इस कारण इस विषयका पता लगाता है कि इन सभी उत्तरोंमें या मन्तव्योंमें सभी मंतव्य यथार्थ नहीं हैं किंतु यदि ठीक होगा भी; तो एक मंतव्य ही ठीक होगा। शेष सभी मत अयथार्थ (गलत) होंगे। अस्तु।

आज हम अपना अमूल्य समय इसी परीक्षामें व्यतीत करते हैं जिसका एक ऐसा मनोहारी फल निकलेगा जो कि हमको अपूर्व, अनुपम तथा महा आनंद प्रमोद प्रदान करेगा जिससे कि हमारे समयकी बहुमूल्यता हमको अमूल्यता भेट करेगी।

हम सबसे प्रथम इस विषय पर ध्यान देते हैं कि जिन द्रव्योंके भेदोंका हमें निश्चय करना है उनका सामान्य स्वरूप तथा लक्षण क्या है ? तदनन्तर हम परीक्षक बनकर सारासारका विचार कर सकेंगे।

बहुत अनुसंधान करनेपर इस उपर्युक्त शंकाको दूर करनेके लिये हमको सारभूत द्रव्यका लक्षण यह प्राप्त हुआ है कि " जो गुण तथा पर्याय स्वरूप हो वही द्रव्य है " यानी गुण और पर्यायका जो आश्रय है वही द्रव्य है। यहां पर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि गुण और पर्याय ऐसे नहीं हैं कि द्रव्यसे पृथक् रहकर उसमें फिर आ मिले हों किन्तु जैसे वृक्षमें शाखाएं हैं शरीरमें अंग तथा उपांग हैं तथैव द्रव्यमें गुण और पर्याय हैं। अथवा गुण, पर्यायके अतिरिक्त द्रव्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है जैसे कि शाखा, पत्ते, फूल, फल आदिके विना वृक्ष कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। इनमेंसे "द्रव्यकी सभी अवस्थाओंमें रहनेवाला और अन्य द्रव्योंसे भेद दिखलानेवाला ' गुण, है और उसी गुणकी नवीन २ जो दशाएं हैं वे 'पर्याय' कहलाती हैं। जैसे चेतन द्रव्यमें यदि ज्ञानगुण है तो वह ज्ञान बाल्य, यौवन, प्रौढ तथा कौमार आदि सभी दशाओंमें रहेगा किन्तु उस ज्ञानकी पर्याय प्रतिसमय नवीन नवीन ही होंगी यानी किसी समय पुस्तकरूप वह ज्ञान है अन्य समय घटरूप है तदनन्तर जलरूप है। आदि। यानी ज्ञानगुण जिस जिस नवीन हालतमें होगा उसकी पर्याय भी उसी रूपमें होंगी। इसी लिये सारांश यह निकला कि गुण द्रव्यके साथ सर्वज्ञ रहता है और पर्याय केवल एक ही समय तक रहती है।

यहां पर यह कह देना आवश्यक होगा कि प्रत्येक द्रव्यमें बहुतसे गुण रहते हैं जिनको किसी प्रकारसे गिन नहीं सके हैं अतएव उनकी संख्या अनंत शब्दसे ही कहेंगे। पर्यायोंकी संख्या भी द्रव्यमें ऐसी ही है। अब इस प्रकार द्रव्यकी परिभाषा हो गई कि "अनंत गुणोंका समुदाय एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल संबंधी पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है " क्योंकि एक समयमें एक गुणकी एक पर्याय और दूसरे समयमें उसी गुणकी दूसरी पर्याय हो जाती है। किन्तु यह बात ध्यानमें रहे कि गुणोंकी यद्यपि अनेक हालतें होंगी परन्तु उनका स्वरूप नहीं बदलेगा। जैसे मनुष्यकी यद्यपि बालक, युवा आदि अनेक दशा होंगी परन्तु वह उन सभी दशाओंमें मनुष्य ही रहेगा अन्य नहीं होगा।

हम इसीसे पता लगा सके हैं कि द्रव्य क्या वस्तु है और गुण क्या है ?! अस्तु।

इसी द्रव्यका यदि अन्य प्रकारसे लक्षण बनाया जाय तो इस प्रकार बनता है कि " जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप है वही द्रव्य है " अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जिसमें मिले वह द्रव्य है।

नवीन पर्यायका उत्पन्न होना उत्पाद है। पहली पर्यायका नष्ट होना व्यय है और पूर्व स्वभावकी जो स्थिर दशा है वह ध्रौव्य है। ये तीनों सतनामक गुणकी हालतें हैं। और यही सतगुण द्रव्यका एक मुख्य लक्षण है। जिस प्रकार द्रव्यका पूर्वोक्त लक्षण प्रमाणिक है और इसीलिये यथार्थ है। उसी तरह यह लक्षण भी प्रमाणसिद्ध है क्योंकि द्रव्य जिस प्रकार किसी अपेक्षासे नित्य है तथैव किसी अपेक्षासे परिणामी यानी बदलनेवाली भी अवश्य है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक वस्तु जैसी है हमेशा वैसी ही रहनी चाहिये बिलकुल न बदलनी चाहिये। किन्तु ऐसा कहीं भी नहीं देखा जाता है। हम देखते हैं किसी समय खेतमें बीज था उसके दूसरे समय वहां अंकुर हो गया है उसके पीछे छोटा पेड़ है तदनन्तर वहां बड़ा पेड़ होगया और फलोंसे परिपूर्ण बन गया। अन्तमें समय पाकर अपने आप सूख गया, यह एक वृक्षका दृष्टांत है। किन्तु यह हालत सभी पदार्थोंकी है। प्रति समय नवीन २ हालतोंमें बदलती हुई ही वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे बिलकुल ही बदल जाती हैं। क्योंकि यह नियम है कोई भी पदार्थ न तो बिलकुल नष्ट ही होता है न सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होता है। जिस समय पदार्थ नई अवस्थामें आता है उस समय वह अपनी पहली पर्यायसे नष्ट हो जाता है। किन्तु अपने स्वभावसे नष्ट नहीं होता है। आम यद्यपि हरे रंगसे पीले रंगका हो गया परन्तु उसमें रंग नामक गुण तब भी था और वह अब भी है। मनुष्यकी बाल्यदशा नष्ट होकर युवावस्था उत्पन्न हो गई किन्तु जो मनुष्यता पहले थी वह अब भी है। हां! पर्याय पलट गई है इससे सिद्ध होगया कि वस्तुमें प्रत्येक समय उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य बराबर रहते हैं जिससे कि नवीन परिणमन भी होता है और अपने स्वभावका नाश भी नहीं होता है। इसलिये ऐसा नियम बन गया कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वही नष्ट होती है और वही स्थिर भी रहती है। तथा जो पदार्थ नष्ट होता है, वही उत्पन्न होता है और वही स्थिर भी रहता है। एवं जो द्रव्य किसी प्रकार स्थिर है वही उत्पन्न होता है और नष्ट भी वही होता है।

यह नियम जब कि प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे निर्बाध सिद्ध है तब परिणाम यह निकलेगा कि जो पदार्थ उत्पन्न हुआ था वही उत्पन्न हो रहा है और वही उत्पन्न होगा तथा जो पहले नष्ट हुआ था, वही नष्ट हो रहा है और वही नष्ट होगा। इसी प्रकार जो वस्तु अपने स्वभावमें स्थिर थी, वही स्थिर है और वही स्थिर रहेगी।

सारांश यह है कि यह नियम त्रैकालिक है। इसलिये द्रव्य उत्पन्न होते हुए तथा नष्ट होते हुए भी अपने स्वभावमें स्थिर रहते हैं।

इसका अर्थ कुछ व्याख्याता ऐसा करते हैं कि द्रव्य पर्यायकी अपेक्षा उत्पत्तिमान्

है, गुणोंकी अपेक्षा ध्रुव (अविनाशी) है। वे महाशय अपनी समझमें भूल करते हैं। क्योंकि द्रव्योंकी पर्यायें जैसे किसी कारण अनित्य अथवा उत्पाद व्ययवाली है इसी प्रकार वे ध्रौव्यवाली भी किसी अपेक्षासे हैं। और द्रव्योंके गुण जिस प्रकार ध्रौव्यात्मक यानी नित्य मालूम होते हैं। वे ही गुण किसी तरह अनित्य भी दीखते हैं अथवा इसको इस तरह कहना चाहिये कि उत्पादमें व्यय और ध्रौव्य निवास करते हैं। और व्ययमें भी उत्पाद उत्पाद तथा ध्रौव्य रहते हैं एवं ध्रौव्यमें भी उत्पाद, व्यय अवश्य पाये जाते हैं। यह बात इस तरह सिद्ध होती है कि यदि पर्यायमें कुछ भी नित्यता न हो तो वह क्षणभर भी न ठहर सकेगी और इस प्रकारसे पर्याय ही न रह सकेगी। पर्यायमें कुछ न कुछ नित्यता या स्थिरपन है तभी तो आम कभी हरा और कभी पीला दिखाई देता है। मनुष्य कभी बच्चा और कभी युवा दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा किसी भी रूपमें न दीखेगा। इसी प्रकार गुण भी यद्यपि किसी अपेक्षासे ध्रौव्यात्मक है परन्तु किसी अपेक्षासे उत्पादव्यय स्वरूप परिणामी भी है क्योंकि यदि ऐसा न होवे तो गुणोंकी सदा एकसी ही हालत दीखनी चाहिये उसमें किसी भी प्रकार हेरफेर न होनी चाहिये। आमका रूपगुण सर्वदा हरा या पीला ही रहना चाहिये, बदलना न चाहिये, रस भी खट्टा या मीठा ही सर्वदा रहना चाहिये किंतु ऐसा होना प्राकृतिक नियमके विरुद्ध है। अतएव गुण जिस प्रकार सामान्यतया अपरिणामी (नित्य) हैं। विशेषतया वे ही परिणामी भी अवश्य हैं।

इस सभी जंजालका यही सारांश है कि 'अनंत गुण तथा अनंत पर्यायवाली द्रव्य होती है। इसीको दूसरे ढंगसे ऐसा कह सके हैं कि उत्पत्ति, नाश तथा स्थिर दशाको धारण करनेवाला ही द्रव्य है।

अब द्रव्यका लक्षण तो पूर्णतया प्रमाणरूपी कांटेपर तुल चुका जिससे कि हमको प्रकृत विषयपर विचार करनेका अवसर मिल गया। हमको प्रकरणानुसार प्रथम ही यह विचारना है कि वे द्रव्य कितनी हैं। और कैसे हैं ?। तत्पश्चात् उसी प्रकरणकी अन्य शंका उपस्थित करके उनका निराकरण करेंगे।

जिस समय हम उपर्युक्त प्रश्नको हल करनेके लिये अपनी प्रतिमाको काममें लेते हैं, उस समय हमको ज्ञात हो जाता है कि इस विशाल संसारस्थलमें दो प्रकारके द्रव्य ही उपलब्ध होते हैं। अर्थात् संसारमें जितने भी अनंत पदार्थ हैं वे दो जातिके हैं—एक तो चेतन हैं दूसरे अचेतन।

जिन पदार्थोंमें जानने देखनेकी शक्ति है उनको चैतन्यदशासे सहित होनेके कारण चेतन कहते हैं इनको हो 'जीव' शब्दसे पुकारते हैं। और जिनमें जानने, देखने,

सुखदुःखके अनुभव आदि चैतन्य शक्तिका विकाश नहीं है वे पदार्थ अचेतन हैं जिनको जड़ या अजीव भी कहते हैं। अस्तु। इन दो प्रकारोंको छोड़कर पदार्थोंकी तीसरी और कोई जाति नहीं है। सभी पदार्थ इन्हीं दोनोंके अन्तर्भूत हैं।

किन्तु पदार्थोंकी ये जातियां भी जड़वादके इस मध्याह्नकालमें कहना असंभवस्त हो जाता है क्योंकि इस समय मनुष्योंका बहु भाग इस सिद्धान्तको अटल तथा वास्तविक मान बैठा है कि "संसारमें केवल एक अजीव द्रव्य ही है। जिसको हम लोग जीव कहते हैं वह भी जड़ द्रव्यकी पर्याय है" इसको सिद्ध करनेके लिये वे प्रत्यक्ष, परोक्ष कई प्रकारके प्रमाण तथा दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। अस्तु।

कुछ भी हो। यहांपर यह निश्चय नहीं किया जा सक्ता है कि विचारक व्यक्तियोंकी अधिक संख्या जिस मंतव्यको निश्चित करे वही मत यथार्थ होगा और सिद्धान्त भी वही हो सकेगा। क्योंकि संभव है कि वे सब भूलपर होवें और भेड़ियाधसानमें आकर उन मनुष्योंकी संख्या बढ़ गई हो। और उसके विरुद्ध कहनेवाला थोड़े मनुष्योंका समुदाय ही ठीक मार्गपर हो। क्योंकि परीक्षकोंका मार्ग यद्यपि आजकल चौड़ा हो गया है किन्तु कषाय और पक्षपातका भाव अभी तक मनुष्योंके हृदयसे विदा नहीं हुआ है। अन्यथा आर्यसमाज सरीखा कुतर्की जनसमुदाय भी 'सृष्टिकर्तृत्व' सरीखे स्थूल विषयपर न उलझा रहता। अस्तु।

इसलिये जब हमने अपना अनुपम तथा अमूल्य समय विचारनेके लिये प्रदान कर दिया है तब हमारा प्राथमिक कर्तव्य है कि हम इस कंटकको भी अलग कर दें अन्यथा आवागमनके प्रारम्भमें ही मक्षिका छींक देगी जिससे एक पैर भी आगे न चल सकेंगे।

जड़वादको माननेवाले महाशय अपना सिद्धान्त इस प्रकार जमाते हैं कि "संसारमें केवल जड़ द्रव्य ही है। जीव भी इन्हीं अचेतन द्रव्योंके संगसे उत्पन्न हो जाता है। जगतमें पृथ्वी, जल, अग्नि, तथा वायु इन चार द्रव्योंके चार प्रकारके परमाणु भरे हुए हैं। उन्हीं परमाणुओंके परस्पर मिल जानेपर जल, पृथ्वी आदि अनेक प्रकारके पदार्थ बन जाते हैं। जिस प्रकार गुड़, महुवा, धतूरा आदिके मिलापसे गहरा नशा या बेहोशी लानेवाली मदिरा बन जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतके संयोग (मिलाप) होनेसे चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसको जीव कहते हैं। वास्तवमें जीव नामक कोई पदार्थ अलग स्वतंत्र नहीं है। इसलिये संसार केवल जड़ पदार्थसे ही भरा है" ये लोग इसी कारण ऐसा कहते हैं कि परलोक कोई वस्तु नहीं है। अस्तु।

इस मतको युक्तिशून्य, असत्य सिद्ध करनेके प्रथम उससे संबन्ध रखनेवाला कुछ विषय कह देना आवश्यक होगा जो कि इस प्रकार है।

जिस प्रकारका कारण होता है कार्य भी उससे वैसा ही होता है। अर्थात् उपादान कारण जिस जातिका होगा कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा। जैसे मनुष्यसे मनुष्य ही उत्पन्न होता है और घोड़ेसे घोडेकी ही उत्पत्ति होगी। तथैव चनेका बीज चनेका वृक्ष ही उत्पन्न करेगा और आमके पेड़पर आमका फल ही लगेगा उसपर केला कभी नहीं लगेगा। क्योंकि उस फलका कारण दूसरा ही है। इसलिये यह नियम बन गया कि चनेको चाहे जैसी भूमिमें बोदें और उसमें चाहे जैसा खाद दें किन्तु उससे गेहूं कभी नहीं होगा उससे चना ही होगा। आमके वृक्षपर हजारों प्रयत्न करने पर भी केला उत्पन्न न हो सकेगा।

इससे हमको यह सार मिल गया कि जिस जातिका कारण होगा कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा। अन्यथा नहीं।

अब हम अपने प्रकरणपर आते हैं। जड़वादियोंका जो यह कहना है कि "गुड़ धतूरे आदिके मिलापसे जिस तरह शराब बन जाती है जीव भी उसी प्रकार पृथ्वी जलादिक चार भूतोंके मिलजानेपर बन जाता है। यह कोई अलग नया पदार्थ नहीं है" आदि। इस विषयमें हमको प्रथम ही यह देखना है कि शराबमें जो मादक (नशा) शक्ति है वह उसके कारणोंमें है या नहीं है? । क्योंकि उसके कारणोंमें ही यदि वह शक्ति होगी तब तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि शराबसे बहुत गहरा नशा आता है क्योंकि वह नशा उसके कारणोंमें पहलेसे ही था। यदि उन कारणोंमें वह नशा नहीं होगा तो अवश्य ही एक आश्चर्यकी बात ठहरेगी।

शराब बननेके उपादानकारण महुआ, धतूरा, गुड़ तथा एक मादक फलका चून आदि हैं। इन वस्तुओंको यदि प्रथक् प्रथक् ही कोई मनुष्य खावे तो उसको थोड़ा बहुत अवश्य नशा आ जाता है। शिरकी पीडा, बुद्धिका बिगड़ जाना, स्वस्थ दशा न रहना ये सभी बातें केवल एक एक पदार्थको भक्षण करनेसे ही होजाती है। यदि इन सबको मिलाकर कोई पाक तयार किया जाय तब तो वह नशा और भी बढ़ जायगा क्योंकि वे सब एक स्थानपर मिल गये हैं। बस यही शराबकी हालत है। जो चीजें प्रथक २ कम नशा लाती थी उन्होंको मिलाकर शराब बना लेनेपर उन वस्तुओंका मद तीव्र हो जाता है। और इसके सिवाय और कोई नवीन बात नहीं होती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि शराबके कारण ही मादक हैं, उसमें यदि मादक शक्ति आगई तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। क्योंकि नशीले कारणोंसे जो पदार्थ उत्पन्न होगा वह नशीला अवश्य होगा। अस्तु।

इसलिये जड़वादियों द्वारा दिया हुआ मदिराका दृष्टान्त तो टूट गया। अब प्रधान विषयपर प्रकाश डालते हैं।

"पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतोंके द्वारा जीव उत्पन्न होता है अर्थात्

जीवके उपादानकारण पृथ्वी, जलादिक हैं " भूतवादी इसी सिद्धान्तपर अपना पसीना बहाते हैं। अस्तु।

यहांपर हमको दो प्रश्न उठते हैं। कि इन चार प्रकारके भूतोंमेंसे केवल एक एक भूत ही जीवको उत्पन्न कर देता है। अथवा ये सभी मिलकर जीवको उत्पन्न करते हैं?।

यदि भूतवादी जनता पहले पक्षको ग्रहण करके उत्तर दे अर्थात् केवल अलग २ एक ही पृथ्वी आदिक भूतसे जीव उत्पन्न होजाता है। तो फिर यह बिना किसी कष्टसे सिद्ध हो गया कि जीव चार प्रकारके उत्पन्न होते हैं। पहले पार्थिव (पृथ्वीसे उत्पन्न) दूसरे जलीय, तीसरे आग्नेय और चौथे वायव्य (वायुसे उत्पन्न) क्योंकि जब कि कारण चार प्रकारके हैं उनके कार्य भी चार प्रकारके ही होंगे। किन्तु यह बात कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। जितने भी जीव प्रत्यक्ष होते हैं सभीमें जीवत्वगुण एक सरीखा मिलता है। यद्यपि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक प्रकारके जीवोंका शरीर अनेक प्रकारका है किंतु उन सबमें ज्ञान या चैतन्यशक्ति सामान्यतया समान है। यह दूसरी बात है कि किसीमें ज्ञानकी मात्रा अधिक है और किसी जीवमें अल्प है किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि " मनुष्यका जीव अमुक पदार्थसे बना है इस लिये उसमें ज्ञान सबसे अधिक है और हाथीका जीव अमुक भूतसे निकला है इस लिये उसमें मनुष्योंसे कम और पशुओंसे अधिक ज्ञान है। तथा गधा, ऊंट, बैल, उल्लू आदि अमुक भूतसे उत्पन्न हुए हैं इस लिये वे बुद्धिमें तथा समझनेमें गधा, उल्लू आदि ही हैं "।

क्योंकि एक जातिके जीवोंमें भी ज्ञानकी कमी वेशी मिलती है। मनुष्योंमें ही देख लीजिये, जितने मनुष्य हैं उनके ज्ञानमें उतने ही भेद हैं। सारांश यह है कि ज्ञान (चैतन्य) गुण सामान्यतया सभी जीवोंमें है। इसके अतिरिक्त जीवोंके शरीर भी चार प्रकारके नहीं मिलते हैं जिससे उपर्युक्त बात सिद्ध हो जावे किंतु जितने प्रकारके जीव जंतु हैं सभीके शरीर भिन्न २ प्रकारके हैं। इस लिये भावार्थ यही निकला कि पृथक् पृथक् केवल एक एक भूतसे ही जीव उत्पन्न नहीं होते हैं।

यदि कोई महाशय दूसरा पक्ष लें कि चारों भूत मिलकर जीवको उत्पन्न करते हैं। जैसे महुआ, गुड़ आदि मिलकर शराबको उत्पन्न कर देते हैं।

तो उनके लिये यह उत्तर तयार है कि जैसे उपादान कारणका धर्म कार्यमें आया करता है। जैसे घड़ेमें उसके उपादान कारण मिट्टीका धर्म आता है। महुआ आदि नशीले पदार्थोंका नशीला गुण उनसे बनी हुई शराबमें आजाता है। यह प्राकृतिक अटल नियम है। इसी प्रकार जीवमें जो चैतन्य गुण दीखता है वह उसके उपादान कारण जला-दिकमें भी दीखना चाहिये। ज्ञानकी थोड़ी, अधिक मात्रा अवश्य दृष्टिगोचर होनी चाहिये।

किंतु ऐसा नहीं है। जल, पृथ्वी आदिमें अलग भी ज्ञानशक्ति नहीं मालूम होती है फिर उनसे बने हुए जीवमें वह शक्ति कहांसे आ सकी है?। आवेगी भी कहांसे? ये सब कारण तो अचेतन हैं। इस लिये यह सिद्ध हो गया कि ये चारों भूत जीवके सजातीय नहीं हैं किंतु विजातीय हैं। और यह नियम ही है कि जिस जातिका कारण होगा, कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा।

इस लिये यह सिद्ध हो गया कि अचेतन भूतोंसे चेतन जीव कभी उत्पन्न न हो सकेगा अन्यथा पृथ्वीसे जल और जलसे अग्नि भी पैदा हो सकेगी जिससे भूत चार प्रकारके ही हैं उनसे पदार्थ भी उसी जातिके उत्पन्न होते हैं, यह उनका सिद्धान्त बिगड़ जायगा। किन्तु होता ऐसा भी है, पार्थिव लकड़ीसे अग्नि, जलसे पार्थिव ओला और दीपककी अग्निसे पार्थिव काजल बन जाता है।

यहां यदि यह कहा जाय कि उन चार प्रकारके पदार्थोंसे शरीर बन जाता है और शरीरमें चेतनशक्ति अपने आप आजाती है अर्थात चेतन शक्ति शरीरका ही गुण है।

यह कहना भी पर्याप्त न होगा क्योंकि यदि ज्ञान शरीरका ही गुण होता तो शरीरके अनुसार ही उसमें कमी वेशी होती किन्तु ऐसा है नहीं, शरीर वैसा ही बना रहता है किन्तु जीवमें बहुतसे विकार हो जाते हैं। शरीर कभी मोटा हो जाता है कभी पतला। किन्तु ज्ञान उतना ही बना रहता है। मृतकका शरीर जैसेका तैसा बना रहता है किन्तु उसमेंसे चेतनशक्ति निकल जाती है। इसके अतिरिक्त जीव यदि शरीरका ही गुण-स्वरूप होता तो शरीरके अनेक खंड कर देने पर सबमें पृथक् पृथक् जीव मिलना चाहिये। जैसे कि घड़ेके अनेक खंड कर देनेपर सबमें मिट्टी तथा उसका गुण अवश्य मिलता है। शरीरके खंडोंमें ऐसी बात मिलती नहीं है।

इस लिये अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि जीव शरीरादिक जड़ पदार्थोंसे भिन्न एक निराला ही पदार्थ है जिससे कि संसारमें केवल जीव तथा अजीव दो ही द्रव्य हैं यह अनायास सिद्ध हो गया।

यहां पर इतना कह देना आवश्यक होगा कि जीव द्रव्यका संक्षिप्त वर्णन भी अधिक समय तथा स्थान चाहता है अतएव उसको यहीं छोड़ देते हैं। इसके सिवाय उसके भेद प्रभेद भी असंख्यात तथा अनंत हैं। उनको भी हम यहां बतलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं। अस्तु। किन्तु इतना ध्यानमें रखना चाहिये कि सर्व जीवोंमें गुण तथा शक्तियां समान विद्यमान हैं यह दूसरा विषय है। किसी विशेष कारणवश किन्हीं जीवोंमें कोई गुण थोड़े व्यक्त हैं और कुछ जीवोंमें अधिक प्रगट हैं। सामान्यतया सभी जीव समान हैं।

अब अजीव द्रव्य शेष रहा जिसका व्याख्यान आवश्यक तथा अनिवार्य है। अस्तु। जीव द्रव्यको छोड़कर शेष जो भी द्रव्य हैं वे सभी अजीव द्रव्य हैं क्योंकि उन सभीमें चेतनराहित्य अथवा, अजीवत्व भाव विद्यमान है। अतएव सामान्यतया उन सभीको एक जातिका कह दिया जाय तो भी अनुचित न होगा। किन्तु उनको विशेष विशेष, अनिवार्य भेदोंके कारण विभक्त करना ही चाहिये।

अब अपना मानसिक बल इसी पर लगाते हैं कि अजीव द्रव्य कितने प्रकारोंमें विभक्त है अथवा हो सक्ता है।

तब सबसे प्रथम जीव द्रव्यको छोड़ देनेपर जितना भी कुछ दिखलाई देता है वह सभी पुद्गल द्रव्य ही दृष्टिगोचर होता है जिसको कि मूर्तिक द्रव्य भी कहते हैं। संसारमें चर्मचक्षुओंसे तथा इतर द्रव्येन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंसे जो कुछ उपलब्ध होता है सभी पुद्गल द्रव्य है। यहांतक कि यदि सूक्ष्म विचार न किया जाय तो पुद्गल द्रव्यको छोड़कर जीव द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता है। अस्तु।

पृथ्वी, पर्वत, समुद्र आदि जितने भी पदार्थ हैं सभी पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। यहां तक कि जीवद्रव्य जिस घरमें निवास करता है वह शरीर भी पुद्गलमय है। इसलिये इस पुद्गल द्रव्यको सिद्ध करनेका परिश्रम नहीं करना पड़ेगा क्योंकि जन्मान्ध पुरुष भी अपने ज्ञाननेत्रोंसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे सहजमें ही इस द्रव्यसे पूर्ण परिचय हो जाता है।

हां! एक बात अवश्य कहना है जो कि प्रायः अस्पष्ट तथा विवादास्पद है। वह यह है कि जिस प्रकार पुद्गलमें रूप गुण है और वह पूर्णतया स्पष्ट है उसी प्रकार उसके अविनाभावी या साथ साथ रहनेवाले तीन गुण और भी हैं। जिनका ज्ञान नेत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रियोंसे होता है। वे गुण रस, गंध तथा स्पर्श हैं जो कि प्रत्येक पुद्गल पदार्थमें अवश्य विद्यमान हैं।

इसलिये पुद्गल द्रव्यका यह लक्षण बनगया कि, "जिसमें रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये चार गुण पाये जाय वह पुद्गल है"। इन चारों गुणोंमेंसे किसी पदार्थमें चारों गुण ही व्यक्त हैं और कुछ पदार्थोंमें कोई गुण ही व्यक्त है शेष अव्यक्त रूपसे रहते हैं। किन्तु यह नियम है कि जहां इन चारोंमेंसे कोई एक गुण होगा वहींपर शेषके तीन गुण भी अवश्य मिलेंगे। यह नियम हमको उन अनेक प्रकारके नाना पदार्थोंके अनुभवसे ज्ञात हो जाता है। जैसे आमको खानेसे उसका मीठा रस मालूम हुआ, सूंघनेपर सुगंध भी उपलब्ध हुई। कोमल, ठंडा, भारी, चिकण, स्पर्श भी पाया गया। इसी प्रकार गुलाबके इत्रमें जैसे सुगंधि उपलब्ध होती है उसका रंग तथा स्पर्श भी उसी प्रकार मिलता है और स्वाद लेनेपर उसमें किसी न किसी प्रकारका रस भी मालूम होता है। हमको जब कि

ऐसा नियम या इन गुणोंका साहचर्य प्रायः सभी अनुभूत पदार्थोंमें मिलता है तब इसी कांटेसे हम सभी पुद्गलीय पदार्थोंका स्वभाव बेरोकटोक यथार्थ जान सके हैं।

अतएव कोई महाशय जो ऐसे सिद्धांत बनाते हैं कि "जलमें स्पर्श रस तथा रूप है, अग्निमें स्पर्श तथा रूप है। तथा वायुमें केवल स्पर्शगुण ही विद्यमान है"। उनका यह सिद्धान्त स्वयमेव फिसलकर धराशायी हो जायगा। क्योंकि जलमें जब कि रस रूप स्पर्श पाये जाते हैं तब उसका अविनाभावी गंध उसमें अवश्य रहेगा। अग्निमें कोई न कोई गंध तथा कोई न कोई रस अवश्य है क्योंकि उसमें स्पर्श तथा रूप मिलता है इसी प्रकार वायुमें भी जब कि शीत या उष्ण स्पर्श एवं वजन पाया जाता है तो उसमें गंध, रूप तथा रस भी अवश्य होने चाहिये। जैसे आमका फल।

बात केवल यही है कि इन पदार्थोंमें कोई कोई गुण मुख्य तथा व्यक्त हैं शेषके गुण उतने तीव्र नहीं हैं किंतु हैं अवश्य। जैसे हींगमें बेलाके तेलमें केवल गंध गुणकी तीव्रता है किन्तु उसमें रस भी अवश्य रहता है, यही दशा उपर्युक्त पदार्थोंकी भी है। इस लिये भले प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थमें स्पर्श, रस गंध तथा रूप ये चारों गुण अवश्य पाये जाते हैं। अतएव प्रत्येक स्कंधमें इन गुणोंमेंसे किसी एक गुणके रहने पर अवशिष्टके इतर गुण भी अवश्य रहेंगे। इस पुद्गल द्रव्यका भी व्याख्यान शक्तिसे बहिर्भूत है। अतएव इसके विशेष परिचयसे विराम लेते हैं।

अजीव द्रव्यमें एक प्रकारकी द्रव्य तो सिद्ध हो गई जो कि पुद्गल है। अब उसी अजीव द्रव्यको इतर प्रकार भी खोजना चाहिये।

यह विषय सभीसे सुपरिचित है कि कार्यको देखकर उसके कारणका अनुमान होता है। जैसे वृक्षको देखकर जान लेते हैं कि इसको उत्पन्न करनेवाला प्रथम ही बीज अवश्य होगा। मिट्टीकी छोटी डलीको देखकर पता लगा लेते हैं कि इसको बनानेवाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणु हैं। आदि। इसके प्रथम ही यह बात भी ध्यानमें रहे कि प्रत्येक कार्यको उत्पन्न करनेके लिये जिस प्रकार उपादान कारणका उपस्थित होना आवश्यक है उसी तरह निमित्त कारणका होना भी अनिवार्य है। क्योंकि सूत रक्खा भी रहे किन्तु जुलाहा तथा करघा उपस्थित न होगा तो वस्त्र कभी न बन सकेगा। अस्तु।

संसारवर्ती जीव तथा पौद्गलिक सभी पदार्थोंका एक साथ गमन होना किसी बाह्य निमित्त कारणसे ही हो सक्ता है अन्यथा नहीं। जैसे तालावमें एक साथ इधर उधर घूमनेवाले मछली, मेंढक आदि हजारों जलजंतुओंके आवागमनमें जल निमित्त कारण है उसके विना उनका गमन नहीं हो सक्ता है। तथैव अनेक जीव पुद्गलोंका ठहरना भी किसी निमित्तके विना नहीं हो सक्ता है। इसलिये उस निमित्त कारणका होना भी अनि-

वार्य है । जैसे घड़ेमें जल रक्खा हुआ है वह विना घड़ेके न रह सकेगा, उसके ठहरनेके लिये कोई न कोई बाह्य कारण अवश्य चाहिये । इस तरह दो प्रकारके कार्य देखनेसे उनके दो कारणोंका अनुमान होता है जिनके विना उपर्युक्त दोनों कार्य कभी नहीं हो सकेंगे । इस लिये दो अजीव द्रव्य और भी विद्यमान हैं जो कि अमूर्तिक हैं, इस बातका पूर्णतया निश्चय होता है । इन दो द्रव्योंका नाम धर्म तथा अधर्म है । चलते हुए जीव तथा पुद्गलको साधारण कारण धर्म द्रव्य होता है । किन्तु बलपूर्वक चलाता नहीं है और जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें साधारण कारण अधर्म द्रव्य होता है ।

कोई महोदय यदि यह समाधान दें कि जीवोंके तथा पुद्गलोंके चलनेमें और ठहरनेमें जल, पृथ्वी, आदि निमित्त कारण होंगे धर्म अधर्म द्रव्य माननेकी क्या आवश्यक्ता है ? । तो उन्हें यह बतलाना चाहिये कि आकाशमें उड़नेवाले पक्ष को सहकारी कारण कौनसा होगा ? । वहांके लिये जिस प्रकार धर्म द्रव्यका नाम लिया जायगा उसी तरह अन्यत्र भी उसीको कहना चाहिये । यहां कोई यदि यह कुतर्क करे कि "इस तरह तो खाने, पीने आदिके लिये भी एक कारण होना चाहिये तथा अन्य तरहकी सभी क्रियाओंके लिये पृथक् पृथक् निमित्तकारण होने चाहिये" तो इसके लिये यही उत्तर पर्याप्त होगा कि उन सभीके लिये अन्य पुद्गलादि पदार्थ विद्यमान हैं ।

इस लिये यह सिद्ध हो गया कि पुद्गलके अतिरिक्त धर्म, अधर्म नामक भी दो अजीव द्रव्यें विद्यमान हैं । ये दोनों सर्वव्यापक, अखंड हैं क्योंकि यदि ऐसा न होय तो सर्व देशवर्ती जीव पुद्गलोंके युगपत् चलने तथा ठहरनेमें सहकारी किस प्रकार होंगे । अस्तु ।

इसके सिवाय अनुसंधान करनेके लिये और भी आगे बढ़ना चाहिये, शायद और भी कुछ हाथ आ जावे ।

जिस समय द्रव्योंके आधारपदार्थोंका विचार जाता है उस समय ज्ञात होता है कि समस्त जीव पुद्गलादि द्रव्योंका आधारभूत कोई और द्रव्य भी विद्यमान है । क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत आदि दृश्यमान सभी पदार्थ पृथ्वीके आधारपर हैं अर्थात् पृथ्वीपर स्थित हैं । और पृथ्वी भी वायुमंडलपर स्थित है किन्तु वह वायुमंडल किस आधारपर स्थित है ? । इस प्रश्नको हल करनेके लिये द्रव्यान्तरका मानना अनिवार्य होगा । इतना ही नहीं किन्तु पदार्थोंकी वास्तविक व्यवस्था किस प्रकार कैसी है ? यह शंका भी हृदयको विचलित करती रहेगी, जिसको हटाना हमारा प्रधान कर्तव्य होगा । अस्तु ।

जिस प्रकार हेतुओंके बलसे जीव द्रव्य तथा धर्म, अधर्म द्रव्य अप्रकट होने पर भी सिद्ध हो गई तथैव उपर्युक्त शंकाओंके निराकरणके लिये **आकाश द्रव्य** भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, इसको विना माने कार्य न चलेगा । क्योंकि सकल द्रव्योंको अवगाह

(निवास) देनेवाला सर्वव्यापक यदि कोई पदार्थ न होवे तो ये वायु पृथ्वी आदि विशाल परिमाणधारी पदार्थ कहां समावेंगे। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पक्षी जिस समय पृथ्वीसे तथा वृक्ष परसे उड़कर दूसरे स्थान पर जाता है उस समय वह किस आधार पर गमन कर रहा है ?। इसको विचारनेसे यह पता अवश्य लग जायगा। उस समय वहां पर उसके लिये कोई पदार्थ आधार है। यदि इसके लिये वायुको ही उसका आधार बताया जाय तो वही प्रश्न पुनः उपस्थित होगा कि वह वायु कहां भरी हुई है ?। मनुष्योंके चलते समय पैर जिस प्रकार पृथ्वीपर स्थिर हैं उसी तरह उनके शरीरका ऊपरी भाग किस स्थानमें ठहरा हुआ है ?। इन शंकाओंको निराकरण करनेके लिये आकाशद्रव्यको अवश्य मानना पड़ेगा। यही आकाश सर्व द्रव्योंको अवकाश देता है और वह स्वयं स्वप्रतिष्ठित है। क्योंकि आकाशद्रव्यको भी अवकाश देनेवाला उससे बड़ा अन्य कोई द्रव्य नहीं है। अतएव यह सर्वव्यापक है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहां आकाश न हो। जहां पोल दिखाई देती है वह सभी आकाश ही है। यह बात जो कही जाती है कि " इस जगतमें सभी पदार्थ भरे हुए हैं "। यह भी आकाशके लिये ही है। क्योंकि जगत सर्व द्रव्योंका समूह ही कहलाता है अतएव सर्व पदार्थोंका निवास आकाशमें ही हो सक्ता है। यद्यपि यह असंख्यात प्रदेशी है किन्तु अवगाहन शक्तिके कारण अनन्त जीव तथा अनंत पुद्गल एवं धर्म, अधर्म, द्रव्य इसमें समा जाते हैं। जैसे जलसे पूर्ण भरे हुए कलशमें यदि एक सेर शक्कर और डाल दी जाय तो वह भी उसमें समा जायगी। फिर भी यदि सौ सुइयां और उसमें डाल दें तो वे भी उसमें आ जायगी। इस लिये सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेवाला सर्वव्यापक **आकाशद्रव्य** अवश्य है और उसमें जहां तक धर्म, अधर्म, पुद्गलादि द्रव्यें प्राप्त होती हैं वहीं तक जगत है जिसको दूसरे शब्दोंमें लोक या लोकाकाश कहते हैं उसके बाद अलोकाकाश है। यह सप्रमाण युक्तियोंके द्वारा सिद्ध हो गया ॥

इस तरह जीवद्रव्य तथा चार अजीवद्रव्य प्रमाणोंसे सिद्ध हो गई। अस्तु।

अब हमको यह और अनुसंधान करना है कि " आकाशद्रव्य जिस प्रकार द्रव्योंके लिये अवकाश देता है। जिससे कि उनकी सुव्यवस्थिति है तथैव प्रत्येक पदार्थको परिवर्तन करानेवाला भी कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये। क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक वस्त्र यदि किसी सुरक्षित स्थानमें भी रखदें तो भी वह कुछ दिन पश्चात् अपने आप जीर्णशीर्ण होकर भस्म हो जाता है। वृक्षपर लगा हुआ हरा आमका फल कुछ दिन पश्चात् क्यों पीला हो जाता है। छोटा बच्चा कुछ दिनोंके अनन्तर क्यों बड़ा हो जाता है ? आदि।

अतएव सर्व पदार्थोंका परिणमन करानेवाला एक कोई द्रव्यान्तर अवश्य है यह निश्चय हो गया। उसका नाम "काल" नियत किया है। अस्तु।

पदार्थोंकी नवीन दशासे जीर्ण दशा करते रहना काल द्रव्यका प्रधान कार्य है। अर्थात् स्वयं परिणमन करनेवाले पदार्थका निमित्तकारण काल है। इसके लिये यदि कोई महाशय समाधान उपस्थित करें कि "पदार्थोंको नवीनसे पुराना बनानेमें घडी, घंटा, दिन आदि कारण हैं कालको एक और द्रव्यान्तर स्वीकार करना व्यर्थ है"।

तो विचारके सम्मुख उनकी यह शंका भी नहीं ठहरती है। क्योंकि घडी, घंटा, दिन, वर्ष आदि सभी व्यवहार हैं। क्योंकि जिस प्रकार "एक मनमें चालीस सेर होता है" यह एक व्यावहारिक बात ही है क्योंकि कार्य चलानेके लिये वैसा मान लिया है तथैव व्यवहारके लिये ऐसा मान रक्खा है कि सूर्य पूर्वसे पश्चिममें जबतक पहुँचे उतने समयको दिन कहते हैं और उसमें बारह घंटे होते हैं। एक घंटेमें साठ मिनट या ढाई घडी होती हैं। आदि। क्योंकि यदि कार्य चलानेके लिये हम घंटेको पैंतालीस मिनटका निश्चय करलें जैसा कि प्रायः स्कूलोंमें किया जाता है तब भी वह घंटा ही रहेगा। पौन घंटा न होगा। इस कारण यह सभी व्यवहार काल है। अतएव वास्तविक काल द्रव्य अवश्य विद्यमान है। क्योंकि जैसे व्यवहारके लिये पाषाणमूर्तिको सिंह तभी कहसके हैं जब कि सिंह नामक यथार्थ कोई पदार्थ अवश्य हो। इसी प्रकार घंटा, घडी, समय आदि तभी कहा जाता है जबकि कोई असली काल पदार्थ है। उसीसे कार्य चलानेके लिये अनेक प्रकारके अनेक संकेत बना लिये हैं। यह व्यवहारकाल पदार्थोंके पर्याय बदलनेसे, सूर्य, चन्द्रादिकी गमन आदि क्रियाओंसे, समयानुसार पदार्थोंके छोटेपन और बड़ेपनसे जाना जाता है। और निश्चय या यथार्थ अथवा वास्तविक काल द्रव्यके बिना यह व्यवहारकाल सिद्ध नहीं हो सक्ता है। इसके अतिरिक्त एक यह भी समाधान है कि जगतमें ऐसी कोई भी एकाकी (अकेला) या असमस्त (समाससे रहित) शब्द नहीं है जो कि किसी पदार्थका वाचक न होवे अर्थात संसारमें जितने भी शब्द उपलब्ध होते हैं सभीके वाच्य पदार्थ अवश्य विद्यमान हैं। जैसे खरविषाण, या आकाशपुष्प ये शब्द यद्यपि किसी पदार्थके वाचक नहीं हैं। किन्तु इनके पृथक् पृथक् पद अवश्य ही किसी पदार्थके कहनेवाले हैं। क्योंकि आकाश भी जगतमें एक पदार्थ है ही। और पुष्प भी वृक्षोंपर विद्यमान ही है। इसी प्रकार संसारमें 'काल' शब्द भी मिलता है तब इसका भी कोई न कोई वाच्य अवश्य है यह नियमानुसार स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कालकी सबसे छोटी पर्याय समय कहलाती है। इसी समयके अनुसार प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म परिणमन होता रहता है। काल द्रव्यके अणु (सबसे छोटे खंड) लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर पृथक् पृथक् स्थित हैं इसी कारण कालद्रव्य अन्य

द्रव्योंकी तरह कायवाला नहीं है। क्योंकि आकाश द्रव्य अखंड है। इसीलिये लोकाकाशमें विद्यमान काल द्रव्यके द्वारा अलोकाकाशका भी परिणमन होता रहता है। जिस तरह आकाश द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है तथैव कालद्रव्यके परिणणनमें भी अन्य द्रव्य सहकारी नहीं है।

इस प्रकार प्रमाणिक युक्तियोंके बलसे काल द्रव्य सिद्ध हो गया जो कि द्रव्योंकी द्रव्यतामें प्रधान कारण है। अस्तु।

इस तरह अजीव द्रव्यकी पांच जातियां सिद्ध हो गई अधिक नहीं। क्योंकि उनके लक्षण तथा प्रधान गुण भिन्न भिन्न हैं। किन्तु जीव द्रव्यकी अन्य कोई जाति नहीं है। कारण यही है कि समस्त जीवोंके लक्षण, गुण, स्वभाव सामान्यतया समान ही है अतः कहना पड़ेगा कि द्रव्य ६ छह हैं। समस्त जग जंजाल इन्हीं छह विभागोंमें विभक्त है। अतएव द्रव्यें न तो सात, आठ आदि अधिक हैं और न छहसे कम ही हैं इसका कारण यह हैं कि इन छह द्रव्योंके सिवाय अन्य कोई पदार्थ शेष नहीं रहा इस लिये तो अधिक मानना व्यर्थ है। और यदि इन छहसे कम स्वीकार करें तो संपूर्ण पदार्थ न आ सकेंगे। अतएव जगतमें द्रव्य छह ही हैं।

माननीय महाशयों! यद्यपि षट् द्रव्यकी आवश्यक्ता तथा सिद्धि, संक्षिप्त रूपसे भी बहुत संकुचित है क्योंकि यह विषय समुद्रके समान गंभीर तथा सुमेरुके समान उन्नत अथवा आकाशके समान विस्तृत है। किन्तु आपके समयानुसार यही पर्याप्त होगा। क्योंकि विज्ञ महोदयोंके लिये सारांश ही प्रमोददायक होता है। अतएव लेखनीका पर्यटन इसी स्थलपर समाप्ति भूमिको प्राप्त करके कृतकृत्य होता है।

आवेदक—**अजितकुमार शास्त्री**, बंबई।

षट्द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धि।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० ३)

लेखक—पं० बुद्धिलाल श्रावक जैन पाठशाला लाडनूँ (मारवाड़)

सवैया ८ सगण—

चित चिन्तहु शुद्ध चिदातमको, महिमा जिनकी नहिं जाय कही।
नहिं गाय सके जिनराय अहो, गणराय मती चकराय रही॥
निरबाध अगाध समाधि मई, सुख सायरता सरसाय सही।
तिहुँ काल अनन्त समै वरती, "षट्द्रव्य" दशा दरशाय रही॥ श्रावक.

महानुभावो! जब कि देशमें चहुंओर राष्ट्रीय चरचा दीर्घ ध्वनिसे गूंज रही है तब यह षट्द्रव्यकी दिव्य कथा आप सज्जनोंको रुचिकर होगी इसमें सन्देह है। परन्तु यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि षट्द्रव्यका ज्ञान आत्म बलकी प्राप्ति और वृद्धिमें रामबाण औषधि है, और राष्ट्रकी उन्नति आत्मबल पर ही निर्भर है इस लिये कहना होगा कि छह द्रव्योंका कथन देश हितके हेतु अमोघ मंत्र है और आधुनिक आन्दोलनके सर्वथा अनुकूल है।

हमारे पूर्वज छह द्रव्योंके ज्ञानसे आत्मबलमें बढ़े हुए थे इसी कारण भारतवर्षमें सदा अहिंसा धर्मका डंका बजा करता था। भारत वसुंधराके शृङ्गार श्री पूज्य महात्मा गांधीजीके श्रीमुखसे सदा यही घोषणा हुआ करती है कि देशको समृद्धिशाली करनेके लिये अहिंसा और आत्मबलमें उन्नति करो। महात्माजी स्वयं षट्द्रव्यके नामाङ्कित ज्ञाता हैं और श्रीमान्ने देशहितमें जो आशातीत सफलता प्राप्त की है उसके अनेक कारणोंमें षट्द्रव्यका ज्ञान भी एक प्रधान कारण है।

सारांश यह कि, छह द्रव्योंका ज्ञान, अहिंसा धर्म और आत्मबलकी वृद्धिका अद्वितीय साधन है और उससे लौकिक अलौकिक स्वाधीनताकी सिद्धि होसकती है। जब कि इससे स्वार्थ परमार्थ दोनों सधते हैं तो ऐसे उभय लोकोपयोगी विषयसे हमें वंचित नहीं रहना चाहिये। कहा भी है—

दोहा—स्वारथ परमारथ सकल, सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरे दीनता, उचित न तुलसी तोर॥ १॥

जिसकी कथा करते हुए सर्वार्थसिद्धिके देवतागण असंख्यकाल समाप्त कर देते हैं जिनका मर्म गणधर महर्षि भी न समझ सके और पूर्ण ज्ञानी परमात्मा भी जिनके अनंत

धर्म जानते हुए भी संपूर्णतया न कह सके उन अनंत गुणात्मक द्रव्योंका कथन करनेके हेतु मैं तुच्छमति होकर भी लेखनी ग्रहण करता हूं यह देख विद्वान् लोग मुझे पागल कहेंगे और वास्तवमें ही मेरा प्रयत्न उस बालकके समान है जो दोनों हाथ फैला कर समुद्रका माप बतलाता है कि इतना बड़ा है। पर हां! जो कुछ कहूंगा सो गुरूगम और अनुभवसे कहूंगा। कहीं चूकूं तो छल नहीं समझना और न गुरूका दोष समझना।

(१) एक कटोरेमें दहीं रखिये। उसे नेत्र इन्द्रियसे देखिये तो उसमें रंग है, नाकसे सुंघिये तो उसमें गंध प्रतीत होती है, जीभसे चखिये तो उसमें स्वाद जाना जाता है, दहींको हाथमें लीजिये तो उसमें चिकनाहट नरमता और वज़नका बोध होता है सारांश! दही इन्द्रिय गोचर है। अब कुछ दही कटोरेमें ही रक्खो और कुछ दही कटोरेमेंसे हाथमें लेओ तो मालूम हो जावेगा कि दहीके खंड होसक्ते हैं। अब हाथमेंका दही कटोरेमें ही छोड़ देओ तो वह फिर मिल जावेगा। इससे यह भी प्रतीत होता है कि दहीमें इन्द्रिय गोचरताके सिवाय मिलने विछुरनेका गुण है इस लिये "पुरयंति गलयंति पुद्गलाः" की नीतिसे दहीको पुदगल कहना चाहिये। दहीके समान अन्य वस्तुएं भी जो इंद्रिय गोचर हैं वे सब पुदगल हैं जैसे छड़ी, घड़ी, धोती टोपी, कागज कलम, ताला, तलवार, टका, पैसा आदि।

पुदगलोंके ये रूप, रस, गंध, स्पर्श, गुण सदा स्थिर नहीं रहते, सदा बदलते रहते हैं। अर्थात् वर्णसे वर्णान्तर, रससे रसान्तर, गंधसे गंधान्तर और स्पर्शसे स्पर्शान्तर हुआ करते हैं। जैसे जिस आम्रके फलको हमने कल हरा देखा था वह आज सिष्ठ पीला दिखता है और थोड़े कालके बाद लाल दिखने लगता है। जिस फलको हमने कल खट्टा देखा था वह आज मिष्ट देखते हैं और थोडी देरमें विरस हो जाता है। इन गुणोंके गुणांश भी सदा बदलते रहते हैं जैसे जिस ककडीको हमने कल बहुत हरी देखा था आज उसमें कम हरियाली देखते हैं और कुछ कालमें वह पीली दिखने लगती है। ये गुणांश कभी कभी इतने हीन प्रगट रहते हैं कि इन्द्रिय गोचर भी नहीं होते जैसे कि अग्निकी गंध, वायुका रंग इत्यादि। परन्तु यह स्पष्ट है कि वर्ण ५ रस ५ गंध २ स्पर्श ८ इन २० मेंसे जहां १ भी धर्म पाया जावे उसे पुदगल जानो। पुदगलोंकी हालतें सदा बदलती रहती हैं जैसे पानीसे भाप, कुहरा, ओस बादल होते रहते हैं। अथवा अन्न, पानी, हवासे शरीर हड्डी चमडा खून मांस वीर्य आदि हुआ करते हैं। जब वे पुद्गल आपसमें टकराते हैं तो वायु मंडलकी हवाको धक्का लगता है फिर वह हवा एक दूसरे वायु कणोंको धक्का देती है यहां तक कि कानकी झिल्लि तक धक्का पहुंचता है और आवाज सुनाई देती है।

इस चित्रमें देखो-एक लकड़ीमें सूतसे बंधी हुई गोलियां लटक रही
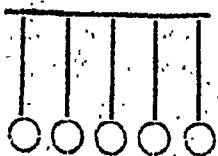
हैं अब एक गोलीको धक्का देओ तो वह दूसरेको और दूसरी तीसरी आदिको धक्का देगी ऐसा ही शब्दमें होता है। शब्द भींत आदिसे रुक जाता है और कभी उलटकर पुनः सुनाई देता है उसे प्रतिध्वनि कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि शब्द मूर्तीक है और मूर्तीक पुदगलोंसे उत्पन्न है। परन्तु शब्दको पुदगलका गुण नहीं कह सकते क्योंकि वह पुद्गलमें सदा नहीं रहता और गुण वही होता है जो पदार्थमें सदा रहता है अतः शब्द पुद्गल की पर्याय याने हालत है। बहुतसे मतान्तर वादी शब्दको आकाशका गुण बतलाते हैं उन्हें हम सम्बोधन करते हैं कि अरूपी आकाशसे मूर्तीक शब्द नहीं निस्पन्न हो सक्ता अगर शब्द आकाशका गुण होता तो लोक अलोक सदा एकसा शब्दायमान रहता और यह घंटेकी आवाज, यह बांसुरीकी तान और यह वीनकी ध्वनि है ऐसा बोध नहीं होता। इतने थोड़ेही वक्तव्यसे आप लोग समझ गये होंगे कि जो कुछ इन्द्रिय गोचर है वह पुदगल है इस लिये अँधेरा, धूप, छाया, प्रकाश, शरीर, वचन, जल, वायु, अग्नि, पहाड, स्वास निस्वास, आदि सब पुद्गल हैं। विजली, टेलीफोन, रेल, तार आदि सब पुद्गलके चमत्कार हैं। कई मतान्तर वादी कहते हैं कि जो कुछ हम देखते सूंघते सुनते हैं यह सब मिथ्या अर्थात् असत् है। इसका निराकरण हम केवल इतनेमें ही करके आगे चलेंगे कि जो वे यह कहते हैं "कि जगत मिथ्या है भ्रांति है" सो उनका ऐसा कहना भी भ्रांति हुआ अतः उनका मिथ्या भ्रांति रूप वचन भी प्रमाण नहीं है।

अब एक चाक मिट्टीका टुकड़ा लेओ उसमेंका एक खसखससे भी छोटा टुकड़ा स्लेट पर रक्खो। उस छोटेसे कणके चाकूसे जितने बन सकें खंड करो। उन खंडोंमेंसे सबसे छोटे खंडके फिर खंड करो, यदि साधारण प्रकाशसे काम नहीं चले तो धूपमेंसे खंड करो और सबसे छोटे खंडके पुनः खंड करो, यदि साधारण आखोंकी दृष्टि काम न देवे तो चश्मेसे काम लेओ और खंड करो। फिर चश्मा काम न देवे तो माइक्रास-कोपसे देखके खंड करो। जब माइक्रासकोपसे भी निरुपाय होते देखो तो बहुत बढ़ियां सूक्ष्म दर्शक यंत्रसे देखकर खंड करो। और जब सूक्ष्मदर्शक यंत्र भी व्यर्थ होने लगे तो ज्ञानसे खंड विचारो। बस सबसे छोटेमें छोटे पुद्गल अणुको जिसका फिर खंड नहीं हो सके उसे बुद्धिसे विचारो उसीका नाम परमाणु है। ऐसे परमाणु भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वंत रहते हैं क्योंकि किसी वस्तुके गुण कभी नष्ट नहीं हो सके। जब कि इन परमाणु-ओंमें स्निग्धता रुक्षता सदा स्वाभाविक रहती है तो वे एक दूसरे मिला करते हैं और दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंतकी संख्यामें भी मिल जाते हैं ऐसी बन्ध रूप दशामें उन्हें स्कंध कहते हैं। अब आप सोच सक्ते हैं कि परमाणु ही असली पुद्गल है जिसकी

ईंट, पत्थर, कागज, कलम आदि हालते हैं। पुद्गल वस्तुका अस्तित्व वर्तमानमें तो स्पष्ट ही सिद्ध है और पूर्वकालमें उसका अस्तित्व हमारी स्मृति सिद्ध करती है कि कल परसों और उसके पूर्वकालमें हमने पुदगलोंको देखा सुना अनुभवन किया था। इतिहास और पुरानी कथाओंसे अनंत भूतकालके पुद्गलोंका अस्तित्व प्रतीत होता है। अब आगामी कालमें भी पुद्गल पदार्थोंका अस्तित्व रहेगा इसमें कोई सन्देह कर सके हैं अतः प्रधानतया इसी पर विचार करना है। पदार्थोंमें गुण होते हैं और गुण वही हैं जो पदार्थोंसे कभी अलहदा नहीं होते सदा सहभावी रहते हैं। धनके कारण मनुष्य धनवान् कहलाता है, ऊंटके पास रहनेसे ऊटवान और गाड़ीका स्वामी होनेसे गाड़ीवान कहलाता है, ऐसा गुणों और वस्तुओं अर्थात गुण गुणीका संयोगी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि धनवान जुदी वस्तु है और धन जुदी वस्तु है। अतः अग्निका उष्णताके साथ, जीवका ज्ञानके साथ जैसा सम्बन्ध है वैसा ही गुण गुणीका सम्बन्ध है, कभी ऐसा नहीं हो सक्ता कि अग्निकी उष्णता तो आप रक्खें और अग्निको मैं अपने पास रक्खूं। इसी प्रकार यह भी नहीं हो सक्ता कि आपका ज्ञान मेरी थैलीमें रक्खा रहे और आप घर पर बैठे रहें। बस! इसी प्रकार स्पर्श रस आदि गुणोंका पुद्गलसे सम्बन्ध है-श्री स्वामी कुंदकुन्द मुनिंद्रने कहा है कि-

दव्वेण विणा ण गुणाः गुणेहि दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्व गुणाणं हवदि तह्मा॥

भावार्थ—द्रव्यके विना गुण नहीं होते और गुणोंके विना द्रव्य नहीं होते इस लिये द्रव्य और गुणोंका अव्यतिरिक्त भाव है। कहनेका अभिप्राय यह है कि पुद्गलके स्पर्श रस आदि गुण कभी नष्ट नहीं हो सके इससे उसका आगामी कालमें कायम रहना स्पष्टतया सिद्ध होता है। सारांश! पुद्गल थे, हैं और रहेंगे। इसी कारण पुद्गल पदार्थ सत् है, सतका कभी विनाश नहीं होता और कभी असत्का उत्पाद नहीं होता यही वस्तुका वस्तुत्व है। सूत्रजीमें कहा है कि सत–उत्पाद, व्यय, ध्रुव युक्त होता है अर्थात वस्तुकी हालतें बदलती रहती हैं पर वस्तु कायम रहती है।

जिस प्रकार पुद्गलमें स्पर्शादि गुण हैं वैसे ही थाली लोटा आदि पर्यायें भी हैं। भेद इतना है कि गुण तो साथ रहते हैं अर्थात सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमशः होती हैं अर्थात् क्रमभावी होती हैं। भाव यह कि एक द्रव्यमें एक कालमें एक ही पर्याय होती है पश्चात् दुसरी, पश्चात् दूसरी, पश्चात् दूसरी, पश्चात् दूसरी, बस! यही उसका उत्पाद व्यय है अर्थात एक पर्यायका लय हो जाना और दूसरीका प्रगट होना फिर उसका भी उसीमें लय हो जाना और तीसरीका प्रगट होना।

अपने हाथमें आटेकी लोई लीजिये वह गेंदके समान गोल है उसे दबा कर बाटी बनाइये अब बाटी पर्याय प्रगट होगई और लोई पर्याय कहां गई ? उसीमें समा गई । अब बाटीको और बढ़ाइये तो रोटी पर्याय प्रगट होगई और बाटी पर्याय उसीमें समा गई । पर लोई, बाटी, रोटी आदि सब हालतोंमें आटा वस्तु मौजूद है । इस थोड़ेसे ही कथनसे आप समझ सक्ते हैं कि पुद्गल पदार्थोंमें गुण हैं और पर्यायें हैं इस लिये " गुणपर्य्ययवद्द्रव्यं " की नीतिसे पुदगलोंको द्रव्य कहना चाहिये । और द्रव्य, वस्तु, पदार्थ, तत्व आदि प्रायः एकार्थवाची हैं । समयसारजीमें कहा भी है—

दोहा—**भाव पदारथ समय धन, तत्व वित्त वसु दर्व ।**
द्रवनि अर्थ इत्यादि बहु, नाम वस्तुके सर्व ॥

यह बात भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि पुदगल परमाणु अनंतानंत हैं जो नाना अवस्थाओंको प्राप्त हुआ करते हैं और कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होते । यदि पुदगल पदार्थ न होता तो न पानी होता, न हवा होती, न सभा होती न, सभा मंडप होता, न शरीरधारी सभापति होते, न सभासद होते और न व्याख्यान होते । सारांश ! जो कुछ हम देखते सुनते हैं कुछ भी न होता । स्मरण रहे कि पुदगल अपने स्वरूपसे ज्ञान हीन और बे जान है इस लिये वह अजीव है । साइंसके विद्वानोंने जो अब तक ६१ । ६७ तत्व खोजे हैं और भी खोज रहे हैं वे सब पुद्गल विज्ञानी वा जड़ विज्ञानी हैं । परन्तु हम अपने पाठकोंको आत्म विज्ञानकी ओर झुकाया चाहते हैं ।

(२) आप अपने एक हाथसे, दूसरे हाथमें चीमटी लीजिये और कुछ जादा दबाइये । तो स्पर्श, रस, गंध, वर्णवंत शरीरके सिवाय एक और विलक्षण पदार्थ ज्ञात होगा जिसे यह बोध होता है कि हमें दुःख हुआ, हमें दबाया है, हमने दबाया है, हम पकड़े गये, हमने जाना, हमने देखा । यह जानने वाला शरीरके लक्षणोंसे भिन्न लक्षणोंवाला है बस ! यही ज्ञायक लक्षण आत्मा है और वास्तवमें यही तुम हो, तुम शरीर नहीं हो आत्मा हो जीव हो । जीवके रहते जड़ शरीरको लोग जीवित कहते हैं । मुख्यतया हमें जीव पदार्थको ही समझना और समझाना है क्योंकि अहिंसा और आत्म बलका सम्बंध जीव पदार्थ ही से है । यह आत्मा शरीरसे इतना तन्मय रहता है कि शरीरको पकड़ो तो आत्मा भी पकड़ा जाता है शरीरको पीटो तो आत्मा पिट जाता है । क्या झाड़ क्या चिंटी क्या हाथी सबके शरीरमें आत्मा रहता है । इन्द्रियोंके व्यापार और कायकी चेष्टासे उसका अस्तित्व प्रतीत होता है । परंतु शरीरकी अचेतन परणतिसे जीव की चैतन्य परणति जुदी देखनेमें आती है । जिसे लोग मरजाना कहते हैं उससे जीव पुद्गलकी पृथकता स्पष्टता सिद्ध है । भूत प्रेत, पूर्वभव स्मरण आदिके दृष्टांत जगह जगह

मिलते हैं। मथुराके एक नामाङ्कित श्रीमानके यहां पुत्र था जो अपने पूर्व भवका हा
पूरा पूरा और काबिल यकीन बतलाता था। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जी
पहिले शरीरमें था और एक शरीर छोड़ने पर उसने दूसरा शरीर धारण किया। अर्था
जीव था, है, और रहेगा। क्योंकि शरीरकी स्थितिकी अवधि सिद्ध है और जीवक
स्थितिकी अवधि नहीं है। वह अपरिमित कालसे है और पूर्ववत अपरिमित काल त
रहेगा। शरीरका छोड़ना और ग्रहण करना कपड़े बदलनेके समान है। अज्ञानसे जें
हम कपड़ोंके संयोग वियोग, नवीन प्राचीन पनेमें हर्ष विषाद करते हैं वैसी ही शरीरं
मिथ्या अहं बुद्धि करनेसे राग द्वेष होता है। परन्तु शरीर पुद्गल है जड़ है जीवसे प
है। आत्मा चैतन्य है ज्ञाता है और स्व है तथा अचेतन परणतिसे निराला है। यद्यपि
वह रंग, रस, गंघ रहित होनेसे इन्द्रिय गोचर नहीं है तथापि स्वानुभव गोचर अवश्य है
इसीका नाम भेद विज्ञान हैं और यही सम्यक् दर्शनका कारण है।

आधुनिक आन्दोलनकी सफलताके हेतु ऐसे विज्ञानकी अतीव आवश्यकता है
जिन्हें इस प्रकारका दृढ़ विज्ञान है वे ही शांति और सत्याग्रह धारणकर सक्ते हैं
वे ही सच्चे स्वयम् सेवक बन सक्ते हैं और उनके ऊपर दमन नीतिका बल नहीं चलता
वे दमनको भी अमन समझते हैं और और अंतमें दमन ही का शमन होता है।

सुवर्णकी धाऊको जब हम देखते हैं तब धाऊमें वजन आदिसे सोनेका अस्तित्व
प्रतीत होता है पर सुवर्णका असली रूप प्रगट नहीं दिखता। यदि धाऊको विवेक पूर्वक
भट्टीमें तपावें तो उज्वल सुवर्ण जुदा हो जाता है और किट्टिमा जुदी रह जाती है इस
तरह जब जीवात्मा तपकी अग्निसे तपाया जाता है तब वह उज्वल होकर शरीरसे अल
हदा हो जाता है ऐसा अशरीरी आत्मा पापके बोझसे रीता होकर ऊपरको गमन करता है
और लोकाग्रमें जाके टिकता है (लोकाग्रका स्वरूप धर्म द्रव्यके कथनमें स्पष्ट हो सकेगा।)
यह अशरीरी आत्मा सब पदार्थोमें सारभूत, शुद्ध, बुद्ध, निरविकल्प, आनन्द कन्द,
चिच्चमत्कार, विज्ञानघन, परमदेव होता है। यही हमारी आत्माका वास्तविक स्वरूप है
और हमें उपादेय है। ऐसे ही आत्मा पूर्ण आत्मबल सम्पन्न और सच्चे अहिंसक हैं। यहां
नौकर शाहीकी हुकूमत नहीं पहुंचती और न पर राष्ट्र उनका रक्त चूस सक्ती है। ये सच्चे
स्वराज्यको प्राप्त हैं। गुलामगीरी उनके स्वभावमें नहीं है। उनके पूर्ण ज्ञानका चरखा सदा
ध्वनित रहता है और पूर्ण आनन्दका एकसा सूत निपजाता है कभी तागा टूट नहीं सक्ता।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार साबुनसे धोनेपर गंदे और मलिन कपड़े निर्मल होजाते
हैं उसी प्रकार पराधीन और इन्द्रियोंके विषयोंकी गुलामगीरीमें सुख माननेवाले हमारे आप
जैसे गंदे आत्मा षड् द्रव्य विज्ञानके साबुनसे उज्वल हो जाते हैं। श्रीसमयसारजीमें कहा है—

दोहा.—भेदज्ञान साबू सरस, सम रस निर्मल नीर ।
धोबी अंतर आतमा, धोवै निज गुण चीर ॥

बस ! षट् द्रव्यके ज्ञान और जैन धर्मका यही महत्व और फक्र है कि चिंटी आदिके शरीरमें रहनेवाला और जलियाना बागसे भी भयंकर यातना भोगनेवाला परतंत्र आत्मा उन्नति करते करते त्रैलोक्यका शिखामणि होता है जिसकी सच्ची स्वतंत्रता कल्प काल तक क्या कभी भी नष्ट नहीं होती ।

अब तो बिल्कुल स्पष्ट सिद्ध हो गया कि जीव पदार्थ सदाकालसे था है और रहेगा । विशेष यह कोई जीव तो गंदे कपड़े जैसी संसारी दशामें रहते हैं और कोई उज्जल कपडे जैसी सिद्ध दशामें हैं जहां फिर मलिनता नहीं पहुंचती । श्री गोमट्टसार आदि महाशास्त्रोंमें जीवोंकी गंदी और उज्ज्वलताकी अवस्थाओं तथा उनके कारणोंका वर्णन है जिसका यहां उल्लेख करना गागरमें सागर भरनेके समान नितान्त कठिन है ।

केई मतांतर वादी कहते हैं कि मोक्ष होनेपर आत्मा शून्य हो जाता है कोई कहते हैं, परमात्मामें लय हो जाते हैं, कोई कहते हैं कि चिरागके समान बुझ जाता है, कोई कहते हैं कि जड हो जाता है इत्यादि अनेक कल्पना करते हैं । परन्तु हम पूर्वमें स्पष्ट कर आये हैं कि किसी पदार्थके गुण कभी नष्ट नहीं हो सक्ते अतः चेतियता चेतना चेतता था चेतता है और चेतता रहेगा ।

जिस तरह एक छाया पर दूसरी तीसरी आदि करोड़ों छाया समाया करती हैं उसी प्रकार ।

एक माहीं एक राजें एक माहिं अनेकनो ।
इक अनेककी नहीं संख्या, नमो सिद्ध निरंजनो ॥

मनुष्यके आकारकी मैनकी एक पुतली बनाइये उसे कारीगरीके साथ लोहेसे मँढ दीजिये । फिर उसे तीक्ष्ण आंच दिखाइये तो मैनकी खाक भी नहीं बचेगी सब उड़ जावेगा । यदि छतके ऊपर बड़ा चुम्बक लगाया जावे तो वह पुतली ऊपर जा लटकेगी । अब उस लोह पुतलीके अंदर जो पोल है वह सिद्धात्माकी आकृतिका दृष्टांत है । भेद यही है कि वह पोल अजीव है और शुद्धात्मा चैतन्य मूर्ति आनंदकंद है । बहुतसे मनुष्य मोक्षमें जा टिकनेको एक कैदखाना कहने लगते हैं सो उनका कहना उन स्वराज्य द्रोहियोंके समान है जिन्हें गुलामगीरीकी बद-आदतें बहुत कालसे पड़गई हैं । उन्हें स्वराज्यकी प्राप्तिमें दुख ही दुख दिखता है वे स्वराज्य नहीं वांछते, दासता ही के टुकड़ोंमें प्रसन्न हैं ।

स्वामी दयानंद सरस्वतीका अनुमान था कि मुक्तात्मा परिमित कालमें मुक्तपुरीसे हकाल दिये जाते हैं। परंतु स्मरण रहे कि जिस प्रकार बीजके अत्यंत जल जानेसे उसमें फिर किसी भी कारणसे अंकुर नहीं होता उसी प्रकार कर्मके अत्यंत विदग्ध हो जानेसे फिर भवांकुर नहीं होसक्ता। स्वामीजीको यह भी डर था कि मोक्ष होते होते संसारकी जीव-राशि शून्य हो जावेगी। इसका समाधान उन सज्जनोंकी समझमें शीघ्र आसकेगा जो दशमलवका गणित जानते हैं। यह देखिये १ पूर्णांक जीव राशि है। इसके पीछे दश-मलवबिंदी देनेसे (·१) इसका मान दस गुणा घट जाता है। फिर दशमलव बिंदीके आगे शून्य ० रखनेसे उसका मान और भी दस गुणा (·०१) जावेगा इस तरह आप चाहे जितने शून्य बढाते जाइये मान घटता ही जावेगा परंतु कल्पांत कालतक भी शून्य बढाते रहनेसे दशमलवका अभाव नहीं होगा। उसी प्रकार संसार राशिका अभाव भी नहीं हो सक्ता।

अब यह देखना है कि जो कपडा गंदा है वह अपने स्वभावसे ही गंदा है या उसमें कोई दूसरी चीज आ लगी है। यदि गंदापन वस्त्रका निज स्वभाव होता तो वह उज्जल कभी नहीं होता क्योंकि "स्वकं स्वभावं ण विजहंति" इससे सिद्ध है कि कपडेका स्वभाव मलिन नहीं है, कोई दूसरी चीज जिसे मैल कहते हैं कपड़ेसे चिपक गई है। पर यह अवश्य है कि कपड़ेका ऐसा स्वभाव है कि उसमें मैल चिपक जाता है और मैलका ऐसा स्वभाव है कि वह कपडेसे चिपक जाता है। वह वस्तु जो कपडेसे चिपक गई है कपडेके किस्मकी नहीं है, विजातीय है। इसी प्रकार आत्माको गंदा करनेवाली ऐसी वस्तु है जो आत्माके चैतन्य स्वभावसे विरुद्ध अचेतन है और अरूपी स्वभावके विलक्षण अर्थात् मूर्तीक है। बस! इसे ही कर्म कहते हैं। "कर्म भी पुद्गलकी एक अवस्था सिद्ध हो गई"।

जब हमें क्रोध आता है तब आत्माके अंदर बड़ी खलबली मचती है, हम बड़े रंज और गमका अनुभव करते हैं। जिस तरह समुद्रमें ज्वार भाटा होता और उथल पुथल होती है उसी प्रकार शांतिके समुद्र आत्मामें बड़ी बेचैनी होती है। पर थोड़ी देरके बाद वह बेचैनी शान्त हो जाती है और मालूम होता है कि किसी चीजका असर था जो उतर गया। इससे भी प्रतीत होता है कि ये सब हरकतें करनेवाले आत्म स्वभा-वसे भिन्न पुद्गल पदार्थ हैं। ये आत्मामें विभाव उपजाते और शरीर आदिमें अहंबुद्धि पैदा करते हैं। परंतु जिन्हें जीवाजीव द्रव्योंका सच्चा ज्ञान है वे आत्मासे शरीरको सर्वथा भिन्न और कोसों दूरके समान अनुभव करते हैं। वे सच्चे महात्माजी हैं। उन्हें मरनेका डर नहीं। दमन नीति उन्हें काबूमें नहीं ला सक्ती। जेलमें और मंदिरमें उन्हें अन्तर नहीं दिखता। चाहे उनसे सुतली बटवाओ वा चक्की चलवाओ

चाहे किरकिरी मिला हुआ आटा देओ, चाहे मोहन भोग देओ। सदा प्रसन्न रहते हैं। उनके हृदयमें हिन्दू, मुसलमान् आदि एकसे प्रेम बंधु झलकते हैं और उन्हें कितनी ही तकलीफें और अड़चनें आवें और कैसी कठिन दमन नीतिसे सताये जावें पर वे सत्याग्रहसे नहीं चिगते।

लाओ जितीं हों पासमें, हथकड़ी सांकल बेड़ियां।
कटि ग्रीव जंघा बांध दो, छाती शिखा पग एड़ियां॥
बाकी रहै नहिं तन जरा भी, खूब कस कर बांध दो।
संतर जहलमें सींकचे, ताले लगा कर धांध दो ॥ १ ॥

सारांश! विकट संकट आनेपर भी सच्चे महात्मा लोग परीषहसे नहीं चिंगते। वे तपश्चर्याको कर्तव्य समझते हैं और सच्ची स्वाधीनता पानेमें सफलत होते हैं।

इतने वक्तव्यका सार यह है कि जीव पदार्थका अस्तित्व समझना भी एक प्रकारसे स्थूल है क्योंकि वह हमारे अनुभव गोचर है। वह हमारे शरीरमें है। वह ही हम हैं। पानीमें मीन पियासीके समान आत्माको अन्यत्र नहीं खोजना है। आत्म देव तो देहके देवालयमें ही रहता है। समयसारजीमें कहा भी है—

मत्तगयन्द. **केइ उदास रहैं प्रभु कारन, केइ कहीं उठि जात कहींके।**
केइ प्रणाम करैं गढ़ि मूरति, केइ पहार चढ़े गह छींके॥
केइ कहैं असमानके ऊपर, केइ कहैं प्रभु हेठि जमीके।
मेरो धनी नहिं दूर दिशान्तर, मो महिं है मोहि सूझत नीके॥

यदि जीव पदार्थ न होता तो न तो कोई जानने वाला होता न देखने होता, न स्वराष्ट्र होता, न पर राष्ट्र होता। सब अजीव अजीव ही होते।

अब जीव भी एक द्रव्य सिद्ध हुआ। जिसमें चैतन्यादि गुण हैं और संसारी मुक्त अथवा मनुष्य, पशु, देव आदि पर्यायें हैं। इसके पश्चात हम आप लोगोंका चित एक सूक्ष्म पदार्थकी ओर आकर्षित करते हैं।

३–आप देखा करते हैं कि जो कल था वह आज नहीं है जो बालक थे वे युवक हो गये, युवक थे वे वृद्ध हो गये जो वृद्ध थे वे मृतक हुए। जो शांत थे वे क्रोधित हैं जो क्रोधित थे वे शांत हैं। सारांश जो नवीन था सो पुराना हुआ। अथवा यों कहिये कि पूर्व अवस्था लय हो गई और नवीन अवस्था प्रगट हो गई अर्थात् पदार्थोंकी अवस्थाओंमें परिवर्तन हुआ और हुआ करता है।

यह रीति कबसे है और कब तक रहेगी इसका उत्तर सोचिये तो यही मिलेगा

कि जबसे पदार्थ हैं और जब तक पदार्थ रहेंगे तब तक बराबर परिवर्तनकी रीति चालू रहेगी अर्थात् अनंत भूतकालसे यह पद्धति चालू है और अनन्त भविष्यत कालतक रहेगी।

ऐसा क्यों होता है ? यह विचारें तो अवस्थासे अवस्थांतर होनेका असली अर्थात उपादान कारण वे ही पदार्थ हैं जो अवस्थान्तर हुए हैं। यदि दूधमें दही बननेका खासा न होता तो किसकी मजाल थी कि दूधसे दही बना देता। पर विना बाह्य कारणके भी काम नहीं हो सक्ता। विना रई घुमाये अर्थात् मथन किये बिना मक्खन नहीं मिल सक्ता है। दूसरा दृष्टांत लीजिये कि जो कुंभकारका चक्र घूमता है उसका उपादान कारण चक्र स्वयम् ही है कुंभकार दंडा आदि प्रेरक कारण हैं परंतु यदि वह खूंटी जिस पर चक्र घूमता है वह न हो तो भी चक्र न घूम सकेगा ऐसे कारणोंको उदासीन निमित्त कारण कहते हैं।

बस ! सब पदार्थोंके अवस्थान्तर होनेमें खूंटीके समान जो उदासीन निमित्त कारण है वही काल है। जीव पुद्गलों आदिकी हालतें बदलनेमें वह प्रेरक नहीं, निमित्त रूप है। वह मूर्तीक पुग्दलोंसे भिन्न लक्षणोंवाला अर्थात् अमूर्तीक, और जीवके चैतन्य धर्मसे विलक्षण अर्थात अचेतन ही होना चाहिये।

मिनिट, घंटा, पहर, वर्ष आदिको लोग व्यवहारमें काल कहते हैं पर वह पुद्गलोंकी परणतिसे प्रगट होता है अर्थात् घड़ीकी बड़ी सुई जब बारा नंबरोंपर चक्कर लगा देती है तब लोग कहते हैं कि एक घंटा हो गया।

स्वामी कुन्दकुन्दने कहा है कि "तह्मा कालो पडुच्च भवो" अर्थात् व्यवहार काल पुदगलाश्रित है परन्तु इस व्यवहार कालसे वास्तविक काल जो पदार्थोंको अवस्थान्तर कराता है निराला है वह जीव द्रव्यके समान अमूर्तीक वस्तु है भेद इतना है कि जीव माप में बड़ा है। और कालका प्रत्येक कण परमाणुके बराबर है। परन्तु परमाणु मूर्तीक है और कालाणु अमूर्तीक है। चांदीकी एक पाट लेओ जो लाखों परमाणुओंके बराबर है यह जीव पदार्थका दृष्टान्त है। अब चांदीकी एक रेतनका एक बहुत ही छोटा कण लेओ यह कालाणुका दृष्टान्त है। ऐसे कालाणु सब लोकमें भरे हुए हैं। यह स्मरण अवश्य रहे कि चान्दीकी रेतन पुदगल है उसमें स्निग्धता रूक्षता है जो मिलकर पाट बन जाती है पर कालके दानेमें स्निग्धता रूक्षता नहीं है इससे कालके दाने एक दूसरेसे कभी नहीं बँध सक्ते हैं। इसी कारण वे अकाय हैं।

जिस तरह जीव दूसरोंको जानता और अपनेको भी जानता है उसी तरह काल पदार्थ दूसरोंको वर्ताता और अपनेको भी वर्ताता है। जब कि वह स्वयम् वर्तता है तो उसमें पर्यायें उपजतीं और लय होती हैं। ये अरूपी पर्यायें षट् गुण पतित हानि वृद्धिका स्वरूप समझनेसे बुद्धिमें आ सक्ती हैं परन्तु यह विषय सूक्ष्म है यहां लिखनेसे लेख

बाहुल्यता होगी। सारांश कालमें गुण और पर्यायें होती हैं अतः वह द्रव्य सिद्ध होता है।

यदि काल पदार्थ न होता तो निमित्तके बिना पदार्थोंकी हालत न बदलती उनमें उत्पाद व्यय नहीं होता। जो पदार्थ जैसा है वैसा ही रहता जो आम हरा है वह हरा ही रहता पीला न होता न सड़ता और न छोटा बड़ा होता।

हमारे श्वेताम्बर बंधु इस अतीव आवश्यक द्रव्यका अस्तित्व नहीं मानते। परन्तु जब वे गति स्थिति स्थानके हेतु, निमित्त भूत धर्म अधर्म आकाशको वांछते हैं तो कालके विना भी काम नहीं चल सक्ता परिवर्तनाके हेतु भी निमित्त होना ही चाहिये।

ब्राह्मण धर्म शास्त्रोंमें भी कालका उल्लेख है। और कहा है—

चौपाई.—**सिरजत काल सकल संसारा। करत काल तिहुं लोक सँहारा॥**
सब सोवत जागत है सोऊ। काल समान बली नहिं कोऊ।१।

यह कथन जैन मतके स्याद्वादसे सम्यक् सिद्ध होता है। अर्थात् काल पदार्थ संसारकी नवीन पर्यायोंको उत्पन्न कराता है और प्राचीन पर्यायोंको लय कराता है। परन्तु यदि कोई यह समझ जावे कि काल ही उत्पन्न करता है, काल ही नष्ट करता है तो यह "ही" लगानेसे एकान्तवाद हो जाता है और वह दूषित है॥ कहा भी है—

दोहा—**पद स्वभाव पूरव करम, निच्चय उद्यम काल।**
पक्षपात मिथ्यात सब, सर्वाङ्गी शिवचाल॥१॥

कालके संबंधमें एक बड़ी भारी शंका यह होती है कि काल पदार्थ जब लोक मात्रमें है तो वह अलोकाकाशको क्यों कर परिवर्तित करता है। इसका समाधान कुन्द-कुन्द स्वामीने बड़ी कड़ी युक्तियोंसे किया है उनमेंसे एक मोटीसी यह है कि जिस प्रकार शरीरके मध्य भागमें मैथुन होता है और उसका अनुभव सर्वांग होता है। उसी प्रकार काल भी आकाशके मध्यमें रहके संपूर्ण आकाशको वर्ताता है।

हमारे ऋषियोंकी कथन शैली ऐसी सुन्दर है कि वार वार द्रव्यानुयोगके शास्त्रों का कथन चिंतवन करनेसे अरूपी काल द्रव्य भी स्पष्टतया समझमें आने लगता है।

४—अब हम चौथे पदार्थ पर आप लोगोंका चित्त झुकाया चाहते हैं। आप देखिये पुस्तक टेबिल पर रक्खी है, टेबिल प्लेटफार्म पर है, प्लेटफार्म पृथ्वीपर है, अर्थात् पदार्थोंमें आधार आधेय वा क्षेत्र क्षेत्रिय भाव है।

जिस प्रकार जीव पदार्थ अपनेको और सकल पदार्थोंको जाननेवाला 'ज्ञान' इस परमधर्मसे सिद्ध है। अपनेको और दूसरोंको वर्तानेवाला काल पदार्थ 'वर्तना' इस परम धर्मसे सिद्ध है। उसी प्रकार अपनेको और दूसरे समस्त पदार्थोंको क्षेत्र देनेवाला अवगाहना परमधर्मवाला

पदार्थ होना ही चाहिये। उसके विना द्रव्योंकी सिद्धि नहीं हो सक्ती। बस! उसीका नाम आकाश है। जो सबको क्षेत्र देनेवाला है, सबका क्षेत्रिय है, सबका आधार है। सारांश! आकाश और सब पदार्थोंमें आधार आधेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार जीवके एक प्रदेशमें भी अपनेको और अनंत पुद्गलों, जीवों, काल आदिको जाननेका सामर्थ्य है, कालके एक प्रदेशमें अपनेको और अनंत जीव पुद्गलों आदिको वर्तानेकी सामर्थ्य है उसी प्रकार आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें जो परमाणुके बराबर होता है अपनेको अनंत जीवो, पुद्गलों और काल आदिको स्थान देनेका सामर्थ्य है। पं० प्रवर दौलत रामजी साहबने कहा भी है "सकल द्रव्यको बास जासुमें सो आकाश पिछानो"।

ऊपर आसमानमें जो नीला सा हद्दे नजर दिखता है अथवा जो लाल पीले रंग बदलते रहते हैं उसे बहुतसे लोग आकाश समझ जाते हैं। परन्तु रंग पुद्गलोंमें[1] होता है आकाशमें नहीं हो सक्ता। आकाश अरूपी वस्तु है।

जब कि आकाश सबका क्षेत्रिय है तो जहां जहां जीवादि पदार्थ हैं वहां वहां आकाशका अस्तित्व सिद्ध ही है। लोकमें तो आकाश है ही। परन्तु उससे आगे, क्या है इस प्रश्नका उत्तर यही मिलेगा कि उससे आगे आकाश है, फिर उससे आगे, आकाश फिर उससे आगे? आकाश! लोकसे आगे भी आकाश है तो वहां जीवादि पदार्थ क्यों नहीं पहुंच जाते और लोकको और भी विस्तृत क्यों नहीं कर लेते? इसका समाधान धर्म द्रव्यके कथनसे हो सकेगा।

आकाशमें स्थान दान आदि गुण हैं और काल द्रव्यके समान अरूपी पर्यायें हैं अतः आकाशको द्रव्य कहना चाहिये। यदि आकाश न होता तो पदार्थ ही न रह सक्ते। इस लिये लोककी सिद्धिके हेतु आकाशका अस्तित्व मानना ही चाहिये।

५—६—पाठक! जीव, प्रकृति, काल और आकाश तो संसारमें प्रायः प्रचलित हैं। अब हम उन अरूपी सूक्ष्म वस्तुओंकी ओर आपकी दृष्टि डालना चाहते हैं जो जैन शासन सिवाय अन्यत्र अप्रसिद्ध ही हैं। जिन्हें स्वामी दयानन्दजी जैसे प्रसिद्ध आर्य विद्वान् न समझ सक्के और धर्म अधर्म द्रव्यको जीव प्रकृति आदि पदार्थोंके धर्म अधर्म अर्थात् स्वभाव विभाव समझ बैठे और पवित्र जैन धर्मका खंडन अपने सत्यार्थ प्रकाशमें कर गये।

यह देखिये झाड़से एक फल गिरा और धरती पर ठहर गया। लड़केकी पतंग उड़ते उड़ते कुएमें पडगई। अभिप्राय यह कि जीव पुदगलोंमें गमन स्थिति क्रिया देखते हैं। इसका कारण सोचिये तो अंतरंग कारण तो वे ही गमन स्थिर होनेवाले पदार्थ हैं

---

१. पुद्गल

अर्थात् क्रिया रूप परणमनेकी शक्ति उन क्रियावान् पदार्थोंमें ही है। अगर जीव पुद्गलोंमें गमन स्थितिका स्वभाव न हो तो किसीको ताकत थी जो उससे मस कर सक्ता। परन्तु अंतरंग कारणके सिवाय बाह्य कारण भी चाहिये। बाह्य कारणके विना भी कार्य नहीं हो सक्ता यह बात न्यायसे सिद्ध है जिसका यहां लिखनेसे विषयांतर होना संभव है।

जब रेलगाड़ी चलती है तो उसके चलानेका उपादान कारण तो वह स्वयम् है एंजिन खींचता है सो वह प्रेरक कारण है। इतना होनेपर भी पातोंके विना रेल नहीं चल सकेगी। अभिप्राय यह कि लोहेकी पातें रेलके चलनेमें उदासीन निमित्त कारण हैं। एंजिन खींचे वा रेल चले तो लोहेकी पटरी सहायक होती है पर रेलको जबरदस्ती खींचकर नहीं चलाती। और न चलती हुईको ठहराती हैं।

साइंसके विद्वानोंका भी मत है कि गति स्थितिके हेतु बाह्य निमित्त अवश्य होना चाहिये। वे लोग बहुत दिनोंसे इसका खोज कर रहे हैं, परंतु उन बेचारोंको अरूपी पदार्थोंका जो प्रत्यक्ष ज्ञान गोचर है कैसे पता लग सक्ता है। बस ! जो गति स्थितिमें निमित्त रूप हैं उन्हीं वस्तुओंका नाम धर्म अधर्म है। ये स्वतंत्र पदार्थ हैं। जिस प्रकार नींबूका धर्म खटाई है, गुडका धर्म मिटाई है।

जीवका अधर्म हिंसा वा राग द्वेष है उस प्रकार धर्म अधर्म द्रव्य किसी पदार्थके गुण दोष नहीं हैं वरन जिस तरह आकाश एक द्रव्य है उसी तरह धर्म भी एक द्रव्य है और अधर्म भी एक द्रव्य है। धर्ममें गति सहाई परम धर्म है, अधर्म द्रव्यमें स्थिति सहाई परम धर्म है और दोनोंमें काल द्रव्यके समान् अरूपी पर्यायें हैं। अतः ये दोनों द्रव्य हैं !

यहां एक प्रश्न होता है कि जैन धर्ममें भी तो अहिंसा आदिको धर्म और हिंसा आदिको अधर्म बतलाया है अथवा "वत्थु स्वभावो धम्मो"की रीतिसे इसी निबंधमें पदार्थोंके चैतन्य आदि धर्म कहते आये हो अब यह निराले पदार्थ कैसे कहते हो ? इसका समाधान इस प्रकार है कि एक वाच्यके अनेक वाचक होते हैं जैसे सूर्यके वाचक शब्द दिनकर, दिवाकर, दिनेश आदि हैं। और एक वाचकके अनेक वाच्य भी होते हैं जैसे जैसेकि 'मन' हृदयको (दिलको) भी कहते हैं और मन तौलनेका माप भी होता है। पर जहां जैसा विषय व प्रसंग होता है वैसा ही आशय लिया जाता है। क्योंकि संसारमें पदार्थ और उनके गुण बहुत हैं। और कोषमें शब्द थोडे हैं। इस लिये जहां गुणोंका कथन हो वहां धर्म अधर्म शब्दसे स्वभाव बिभावका आशय लेना चाहिये और जहां द्रव्योंका कथन हो वहां धर्म अधर्म शब्दसे दोनों पदार्थ समझना चाहिये।

स्वर्गीय स्याद्वाद वारिधि पूज्य पं० गोपालदासजी बरैयाने श्री जैनसिद्धांत-दर्पणमें एक तर्क निकाला है कि गति स्थितिके हेतु जुदे जुदे दो पदार्थ माननेकी क्या आवश्यक्ता है ? इसका समाधान भी उस प्रातः स्मरणीय विद्वान्‌ने किया है कि परस्पर विरोधी धर्म एक ही धर्मीमें नहीं हो सक्ते इस लिये जो पदार्थ चलानेवाला है वह ठहरानेवाला नहीं होसक्ता और जो ठहरानेवाला है वह चलानेवाला नहीं हो सक्ता अतः दोनों पदार्थ प्रथक् प्रथक् सिद्ध हैं। और दोनोंकी ही आवश्यक्ता प्रतीत होती है।

अब आप लोगोंकी समझमें आया होगा कि धर्म अधर्म पदार्थ हैं अर्थात धर्मी हैं और गति स्थिति सहायकता दोनों के क्रमशः धर्म हैं। जिस प्रकार साइंसवालोंने लिखा है कि यदि माद्याकार्षण न होता तो सूर्य चन्द्र अपने मार्गपर न रहते न जाने कहां जाते, यदि परमाणु आकर्षण न होता तो सब चीजें धूलकी दशामें रहतीं। उसी प्रकार जैन ऋषियोंका कहना है कि यदि धर्म द्रव्य नहीं होता तो जो पदार्थ जहां था वहां ही रहता कोई भी पदार्थ नहीं चलते न कोई मोक्ष जाता न कोई देशान्तर जाता। न चरखा चलता, न सूत कतता, न सभा होती, और न आप लोग अपने घरसे आ सक्ते।

और यदि अधर्म द्रव्य न होता चलती हुई कोई भी वस्तु न ठहरती। गिल्लीको डंडा मारनेसे वह चली ही जाती फिर न ठहरती। छतरी जो हवामें उड़ पड़ी थी उड़ती ही जाती। और सिद्ध आत्मा जो ऊपरको गमन किये थे चले ही जाते कभी भी विश्राम नहीं पाते। यहां तक कि इन दो द्रव्योंके विना लोक अलोकका भी भेद न होता।
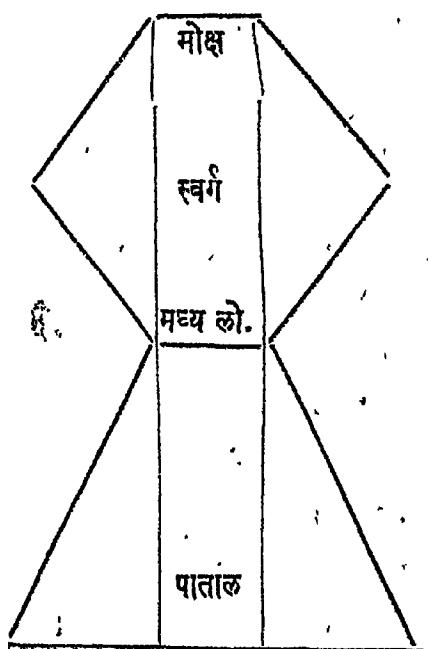
यह चित्र देखिये छहों द्रव्योंसे भरे हुए लोकका आकार है। छहों द्रव्य अपने अपने गुण पर्यायोंमें परणमते हैं कोई भी द्रव्य अपने गुणस्वभाव नहीं छोड़ते और न अन्यके गुण स्वभाव ग्रहण करते हैं। हां! जीव पुद्गल, स्वभाव विभावरूप होते हैं। विभाव परणति निबंधका विषय नहीं है होता तो हम उसका कथन करते। पर इतना अवश्य कहेंगे कि एक दूसरेके निमित्त नैमित्तक होनेसे द्रव्योंकी परणति सिद्ध होती है। अतः लोकका वा द्रव्योंका कोई करता, हरता विधाता सिद्ध नहीं हो सक्ता इस लिये सभी द्रव्य स्वयम् सिद्ध हैं। द्रव्योंका समुदाय रूप, लोक, किसके बलसे अधर खड़ा

है यह कहे विना; हम निबंध पूरा नहीं कर सक्ते । एक साइंसके विद्वान्ने एक मनुष्यको बिलकुल निराधार खड़ा कर दिया था । और उसे हमने स्वयम् देखा है । बुद्धिसे सोचा जावे तो यह जीव अजीव ही की करामात है कहनेका अभिप्राय यह कि इतना बड़ा लोक जीव अजीव ही की विलक्षण विद्युतसे जिसे माध्याकरषण कह सक्ते हैं अधर खड़ा है । परमार्थ दृष्टिसे सब द्रव्योंके आधार स्वरूप आकाशके आधारपर लोक है और आकाश अपने परमधर्म आधारके आधार है ।

छह द्रव्योंके संबंधमें नीचे लिखा छंद स्मरण योग्य है ।

सवैया मात्रिक-

जीव धरम अधरम नभ पुगदल, काल सहित षट् द्रव्य प्रमान ।
चेतन एक अचेतन पाचों, रहैं सदा गुण पर्जयवान ॥
केवल पुगदल रूपवान है, पाचों शेष अरूपी जान ।
काल द्रव्य विन पंच द्रव्यको, अस्तिकाय कहते बुधिवान ॥ १ ॥

उपसंहारमें हमें यह कहना है कि निबंधमें कई जगह मतान्तर वादीको लक्ष्य बनाकर संबोधन किया है सो किसीकी निन्दा वा विरोधकी इच्छासे नहीं किया है । अब ऐसा कीजिये कि एक घड़ी भरको आपही वादी बन जाइये और कहिये लोककी सिद्धिके वास्ते जीव द्रव्यकी आवश्यक्ता नहीं है और न उसका अस्तित्व सिद्ध है । तो मैं कहता हूं कि आप कौन हैं ?

अब आप कहिये-हम पुगदल हैं शरीर हैं । शरीरमें शराब कैसा नशा कुछ काल रहनेसे लोग जीव जीव चिल्लाने लगे हैं ।

मैं कहता हूं-कि शराबका नशा भी जीव ही को होता है । नहीं तो शराबकी बोतलें भी उछलती कूदती फिरतीं इससे जीवका अस्तित्व सिद्ध है ।

अब आप कहिये-कि पुद्गल नहीं हैं ।

तो मैं कहता हूं-कि यह रंग बिरंगे पदार्थ देखते हैं सो क्या हैं ?

अब आप कहिये-संसारमें आकाश नहीं है ।

तो मैं कहता हूं-जीव पुगदल आदि कहां रहते हैं ?

आप कहिये-हम कालकी कुछ आवश्यक्ता नहीं समझते ।

तो मैं कहता हूं—क्या विना निमित्तके भी कार्य हो सक्ता है? संसारमें सभी लोग निमित्तको बलवान मानते हैं।

आप कहिये—लोंककी हद माननेकी जरूरत नहीं। वह अनंत है।

मैं कहता हूं—जब सब चीजोंकी हद है तो लोक भी हद सिद्ध है।

आप कहिये—धर्म अधर्म द्रव्यका अस्तित्व मानना अनावश्यक है।

मैं कहता हूं—लोककी हदसे धर्म अधर्म द्रव्योंका अस्तित्व स्पष्ट सिद्ध है।

आप कहिये—इन द्रव्योंका जानने कथन करनेवाला ईश्वर नहीं हैं।

मैं कहता हूं—कि यहां और इस समय ईश्वर नहीं है कि सर्व काल और सर्व क्षेत्रमें ईश्वर नहीं है।

आप कहिये—कि कभी भी और कहीं भी ईश्वर नहीं हैं।

मैं कहता हूं—अगर आप सर्व काल और सर्व क्षेत्रकी जानते हैं तो आप ही ईश्वर हो।

आप कहिये—कि यदि ईश्वर है तो वह इन द्रव्योंका वा जगत्का कर्ता अवश्य है।

मैं कहता हूं—कि आप ईश्वरको " निरीह ईश्वर विभु " मानते हैं या नहीं?

आप कहिये—सब ही ईश्वरवादी प्रभुको निरीह मानते हैं।

तो मैं कहता हूं—कि इच्छा रहित प्रभु इस प्रपंचमें क्यों पड़ने चला?

आप कहिये—तो सुख दुख कौन देता है।

मैं कहता हूं—जड़ चेतन अनादि संयोगी। आप हि कर्ता आप ही भोगी।

अथवा दोहा—**को सुख को दुख देत है, कौन करै झक झोर।**
उरझत सुरझत आपही, ध्वजा पवनके जोर॥

अब आप कहिये—कि लोककी सिद्धिके हेतु छह ही द्रव्योंकी क्यों आवश्यक्ता है? कुछ कमती मानो!

मैं कहता हूं—कि छहमेंसे किसको छोड़ दूं। जिसके विना पदार्थोंकी सिद्धि होती जावे और बाधा न पड़े उसे छोड़ दूं।

आप कहिये—कि छहसे ज्यादा द्रव्य मानिये।

मैं कहता हूं-कि सातवां आठवां द्रव्य सिद्ध कीजिये।

अस्तु! अधिक कहनेसे क्या? लोककी सिद्धिके हेतु छह ही द्रव्योंकी आवश्यक्ता है और वे स्वयम् सिद्ध हैं।

बहुत लोग रुपये पैसेको द्रव्य कहते हैं। जब मैं विद्यार्थी था तब मैंने द्रव्य-संग्रह ग्रंथ इस लिये मंगाया था कि उसमें रुपये कमानेकी युक्तियां होंगी। लोग रुपया पैसा स्वरूप द्रव्यकी उपासना किया करते हैं सो वह भी द्रव्य ही है पर पुद्गल द्रव्य है उसमें आनंदका लेश भी नहीं। सदा अपने आत्म द्रव्यका आनंद लेना चाहिये।

छहों द्रव्योंमें आत्म द्रव्य सारभूत और उपादेय है। हे जीव! तुम आत्मा हो, आत्मा तुम्हारा है, तुम आत्माके हो। उसे तुम भलेप्रकार जानो, उसका श्रद्धान करो और उसीमें स्थिर रहो। आत्मा ही तुम्हारा सर्वस्व है, उसी पर अर्थात् अपने 'स्व' के ऊपर राज्य करो यही स्व- राज है। ज्यों ही तुम स्वरूपसे चिगते हो त्यों ही परराष्ट्र अर्थात् कर्म दल तुम्हारे ऊपर कबजा कर लेता है वा नौकरशाही रूप इंद्रियोंकी हुकूमतमें तुम्हें रहना पड़ता है जो तुम्हारे ज्ञान धनका शोषण करती और नाना नाच नचाती हैं तथा तुमसे पूरी पूरी गुलामगारी कराती हैं। वे भांति २की चटमटक और चकाचौंध भरी विदेशी वस्तुएं दिखाकर तुम्हें मुलायम और मोहित बना देती हैं और पराधीनताकी जंजी-रसे कस देती हैं। फिर तुम इतने मोहताज हो जाते हो कि यदि विदेशी लोग तुम्हारे कपड़े सीनेके लिये सुई भी न देवें तो तुम्हें फजीहत होना पड़े। इसलिये उनसे असह-योग करदो जो तुम्हारा असली रक्त चूसते हैं। तुम सच्चे स्वदेशी बनो एक क्षण मात्रको भी अपने स्वदेश और देशबंधुओंका हित मत भूलो। दमन नीतिसे मत डरो और अहिंसा पूर्वक सत्याग्रह ग्रहण करके स्वात्मबल बढ़ाओ।

अंतमें यह कहते हुए निबंध समाप्त करता हूं कि-

सब मित्र पवित्र चारित्र धरौ,
अरु शिक्षित पुत्र कलत्र करौ।
पुनि कौशल काव्य-कला विधिसे,
सजदो इस भारतको निधिसे॥

समाज सेवी—बुद्धिलाल श्रावक-लाडनूं (जोधपुर)

श्री स्याद्वादविद्यापतये नमोऽस्तु ।

जैन काव्योंका महत्व ।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० ४)

(लेखक—पं० बनवारीलालजी स्याद्वादी—मोरेना ।)

वन्दारुवृन्दपरिघट्टविलोलिताक्ष वृन्दारकेश्वरकिरीटतटावकीर्णैः ।
मन्दारपुष्पनिकरैर्विहितोपकारं वन्दामहे जिनपतेः पदपद्मयुग्मं ॥
मुकुरविमलगण्डं चन्द्रसंकाशतुंडं गजकरभुजदण्डं कामदाहाग्निकुण्डं ।
विनुतमुनिपषण्डं गोमठेशप्रचण्डं गुणनिचहकरण्डं नौमि नाभेयपिण्डं ।

आध्यात्मिकजननी, अहिंसाधर्मप्राणा, साहित्यसुन्दरी, परोपकारशीला, विज्ञाननयना भारतवर्षीयार्यजातिके पूर्वेतिहास पर दृष्टि वृष्टि करनेपर यह जाति चारित्रोन्नता, अक्षयज्ञानरत्नोंकी प्रसवित्री सुप्रतया प्रतीत होती है, किन्तु निरपेक्ष हम यह भी कहेंगे, कि तत्सामयिक कुछ विषयलम्पटियों एवं च स्वधर्मोन्मत्तगणोंने प्रज्वलित—द्वेषाग्निसे दग्ध कर इस आर्यजातिके सर्वोत्तम पूर्वेतिहासको कलंक—कालिमामय बना दिया है । इस प्रज्वलित विशेषाग्नि हीके कारण गगनस्पर्शी उत्तंगशृङ्गसमन्वित हिमधवलपर्वतमाला, एवं भीतिजनक नीलवर्णसलिलराशिपूर्ण समुद्रसरीखे प्राकृतिक आत्मरक्षकोंके उपस्थित रहने पर भी, सुसभ्य ज्ञानालोकसे प्रकाशित अत्यंत बलिष्ट धार्मिकवसुन्धरा भारत पर विधर्मी और विजातीय नीच वैदेशिकदस्युदलके पुनः पुनः आक्रमणोंसे, भारतवर्ष विध्वस्त विपर्यस्त और परपदानत होकर अपनी अतुलधनराशि विद्या, प्राचीनसभ्यतासम्पत्ति, ऐश्वर्य, आत्मगौरवको पश्चिमीय सागरमें समाधिस्थ कर आज मुट्ठीभर पश्चिमीय जनोंकी तंत्रता (परतंत्रता)के चुँगलमें फँसा हुआ अपने जीवनमरणके प्रश्न हल करवानेकी अवस्थामें उपस्थित हो गया है । प्रिय पाठकवृंद ! यहांपर ही मेरे अश्रुप्रपात होकर समाप्त नहीं हो जाते । किंतु—

इस विद्वेषाग्नि तथा च स्वधर्मोन्मत्तता ही के सबबसे श्री अहिंसाकांतायुक्त, मान्यक्षमामाणिक्य, मार्दवचन्द्र, आर्जीवाचार्य, शौच्यतीर्थभूमि, सत्यरत्नविभूषित, संयमपरिखावेष्टित, तपोभूमि, त्यागजननि, आकिंचन्य मूलसे शोभायमान, विश्वप्रेमचन्द्रकी ज्योत्स्नाका प्रकाशक, ऐसे जैनधर्मका सार्वभौमिक प्रसार न बढ़नेके हेतु, विपक्षियोंने जैनधर्मके प्रचारकोंको निःसीम कष्ट प्रदानके साथ साथ सहस्रों जिनमन्दिरोंको छिन्न विच्छिन्न, जैनसाहि-

त्यके लाखों ग्रंथराजोंको नष्ट कर, जैनप्रमितिसे जो संसारको वंचितकिया है। शायद इसीसे दैवने प्रकोपकर भारतमाताके ३० कोटि जनोंकी स्वतंत्रताको अपहरणकर दारुण दुःखसे दुःखित किया है। बौद्धमतकी राज्यसत्ताके समयमें जब कि भारतवर्षने प्रशान्त जैनधर्मको विदा करनेमें किसी प्रकारकी भी कसर नहीं रक्खी थी, बृहद्ग्रंथराजोंके साथ २ जैनमहाकाव्योंका भी बृहदंश नाशको प्राप्त हो गया था और जब कि श्री शंकराचार्यने जैनधर्मको नष्टीभूत करनेके इरादासे वर्षों गरम पानी कराकर असंख्य जैनग्रंथराजोंको अग्निदेवकी भेंट करदी।

हम नहीं लिख सकते हैं कि जैनसाहित्यके प्रसार करनेके कारणभूत महाकाव्योंका इस पूर्वैतिहासमें कितना प्रक्षय हुआ होगा।

अब हम अपने विचारशील पाठकोंको इस बृहत् पूर्वैतिहाससे अलग कर प्राप्त अभीके करीब ३०० वर्ष पहिले (अर्थात् मुगल बादशाह ओरंगजेब) के जमानेमें ही लिये चलते हैं।

मुगल बादशाहतकी जड़को काटनेवाले इस बादशाहके जमानेमें हिंदु ग्रन्थोंकी तरह कितने ही महीनों तक जैनग्रंथराजसमुदाय गाँवोंकी तरह जलते रहे। भारतवर्षीयाध्यात्मिक क्षय करनेके लिये जो भारतके असंख्य ग्रंथभँडार यवनगणोंने नष्ट किये उसमें भी महाकाव्योंका प्रबल क्षय हुआ।

उस ग्रन्थराजोंके प्रक्षय युगके समय धार्मिक वीरोंने जो ग्रन्थराजि कंदरा गुहादि गुप्त स्थानोंमें छिपाकर रक्षा की थी, उसमें भी बहुग्रंथराशि हमारे विद्याप्रिय पश्चिमीय विद्वान् (जर्मनी, इंगलेंड, आस्ट्रेलियादिके रहनेवाले) प्रलोभन वा डरसे परतंत्र जैन संसार एवं च कर्तव्यपथसे विचलित भारतवर्षसे लेगये। इसमें भी बृहदवशिष्टभाग भट्टारकों, अन्य भँडारोंमें दीमक, अन्य कीटोंका आहार हो रहा है। अतः जो कुछ भी काव्यशास्त्र समुपस्थित हैं, उन जैन काव्यग्रन्थोंका महत्व भव्य पाठकोंकी ही भेंट करता हूं।

'**जैन काव्यका महत्व**' इस शब्दके उच्चारण करनेसे सहृदयके हृदयमें जो भाव प्रादुर्भाव होता है, वही '**जैन काव्यका महत्व**' इसका विग्रहलभ्यार्थ है। इसमें शब्द हैं जैन–काव्य–महत्त्व।

यहां जैन शब्द संबंधी वाचक होनेपर भी इसका अर्थ सुलभ होनेसे इसके व्याख्यानको लक्षित न करके "**काव्य**" शब्दका लक्षण लिखनेको प्रारंभ करते हैं। किसी भी चीजका लक्षण या स्वरूपमें जबतक सम्पूर्ण ऊहापोह नहीं होता है; तब तक सहृदयोंके हृदयाकाशमें उस पदार्थकी सुनिर्मल ज्योति ठीक ठीक नहीं चमकती है। अब उस काव्यका लक्षण "**काव्यप्रकाश**" ग्रंथके रचयिताने इस प्रकार किया है–

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् गुणसहित दोषरहित शब्दार्थको काव्य कहते हैं। वह शब्दार्थ सर्वत्र सालंकार हो। कहीं २ अस्फुट अलंकार होनेपर भी काव्य कहा जासकता है।

पंडित जगन्नाथने "रसगंगाधर" नामक ग्रंथमें इस प्रकार कहा है—

" रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यं " (रसगंगाधर)

इसका अर्थ प्रायः स्पष्ट ही है।

और "साहित्यदर्पण" नामक ग्रंथके कर्ताने काव्यका लक्षण इस प्रकार किया है—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यं" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् रसात्मक वाक्यको काव्य कहते हैं। लेकिन जब हम उपर्युक्त लक्षणके ऊपर दृष्टि वृष्टि करते हैं, तो हमको यह सब लक्षणोंकी विलक्षण सृष्टि सूजती है। क्योंकि काव्यका प्रयोजन इस प्रकार कहा है—

" काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥ "

अर्थात् जिसमें कीर्ति हो, अर्थप्राप्ति हो, लोक व्यवहार ज्ञान हो और अमंगलका विनाश हो, झटिति (जल्दी) विलक्षण सुख हो, कान्ता संमिततासे उपदेश मिले, यही काव्यका प्रयोजन है।

इस प्रयोजनकी सिद्धिका जो कारण है उसका लक्षण दोष रहित गुण सहित अलंकारविशिष्ट शब्दार्थ इतने ही कहनेसे पर्याप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा कतिपय वाक्य यदि केवल शृंगाररसात्मक लिखा जायगा तो उपर्युक्त प्रयोजनमें "शिवेतरक्षतये" अर्थात् अमंगलविनाशके लिये क्या हो सकता है? या उससे कोई सच्चा उपदेश मिल सकता है? इसलिये काव्य प्रकाशकारका उक्त प्रयोजनको लिखते हुये इस तरह लक्षण बनाना, अयुक्त मालूम पड़ता है। ऐसे ही साहित्यदर्पणके रचयिता श्रीयुत विश्वनाथ महापात्र रसात्मक वाक्यको काव्य कहते हुए ठीक नहीं जचते। उसमें भी हम यही कह सकते हैं कि कोई शृंगारादिक रसात्मक वाक्यसे ही उक्त प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः यह ठीक नहीं है। इसी तरह " रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यं " कहते हुए रस गंगाधरकार भी हमारे मान्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि पूर्वोक्त दोष भी उनका पीछा नहीं छोड़ता। और भी अनेक आलंकारिकोंने काव्योंके लक्षण बनाये हैं, किंतु हम उनका खंडन मंडन कर लेखको विस्तृत करना नहीं चाहते। किंतु पूर्वोक्त काव्य लक्षणोंमें दोषानुसंधान करते हुये काव्यसे उक्त प्रयोजनकी सिद्धि जिस काव्यसे हो उसका अनुसंधान

करते हुए जैनालंकारिक काव्यका लक्षण अलंकारचिंतामणिके अनुसार कहते हैं।—

" शब्दार्थालंकृतोद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं।
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यं॥
लोकद्वन्द्वोपकारी स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी।
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्॥

(अलंकारचिंतामणि)

यह जैन कवि श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यका कहा हुआ निर्दोष एवं च मान्य काव्यका लक्षण है। इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

शब्दालंकार, अर्थालंकारसे दीप्त, नवरस सहित, रीति और भावसे सुन्दर व्यंग्यादि अर्थवाला, दोषरहित गुणसहित नेताकी सद्वर्णनसे पूर्ण, इह तथा परलोकका उपकारी, पुण्यधर्मका बड़ा भारी कारण, ऐसे काव्यको नानाशास्त्रप्रवीण, अनुपम बुद्धिवाला कवि करे।

इस काव्यलक्षणसे लक्षित काव्य ही वास्तविक काव्य कहा जा सकता है। इस तरहके काव्यसे उपर्युक्त प्रयोजन अथवा अन्यत्रोक्त—

" धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च, साधुकाव्यनिषेवणं॥ (साहित्यदर्पण)

इस प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है।

अतः अब विचार करना चाहिये कि भारतीय काव्य भंडारोंमें ऐसे कितने काव्य-रत्न हैं जो कि उक्त पूर्व लक्षण लक्षित हों। इसका विचार करनेके लिये सबसे पहिले " लोकद्वन्द्वोपकारी पुण्यधर्मोरुहेतुम् " इन दोनों विशेषणोंको हम उपस्थित करते हैं। जो पुण्यधर्मोरुहेतु है। वास्तवमें वही काव्यचिंतामणि उभयलोकका हितकारी होकर मनवांछित फलप्रद है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि पुण्य और धर्मकी शिक्षा जिनसे मिल सकती है ऐसे काव्य कितने हैं। सर्व प्रथम हम अजैन नैषधादि लोकप्रसिद्ध सरस काव्यों-पर ही दृष्टिपात करते हैं, तो उसमें एक पुरुषका स्त्रीके साथ किस तरहका प्रेम होता है और उसका कैसे निर्वाह होता है इत्यादि विषयोंको छोड़कर धर्मादि शिक्षाकी प्राप्ति नहीं हो सकती और जो जो प्रसिद्ध प्रसिद्ध काव्य हैं उनमें माघ किरातादि तथा रघुवंश कुमारसंभवादि हैं। उन्होंमें कोई तो शृंगाररस ही से लबालब भरे हुए हैं। कोई वीररस प्रधान तथा च कोई वंशवर्णनात्मक हैं। उसीको पुष्ट करते हुये ग्रंथान्त हुये हैं। उन्होंमें आदिसे अन्ततक अवलोकन करने पर भी धर्मोपदेशकी गन्ध भी नहीं मिलती। पूर्वोक्त प्रयोजनेच्छु हम जैनकाव्यमार्गमें पदार्पण करते ही उक्त प्रयोजनको पद पद पर

दृष्टिगोचर करते हैं। क्योंकि जैन काव्योंमें ऐसा कोई भी काव्य नहीं हैं जिसमें धर्मोपदेशके साथ साथ समग्र लौकिक व्यवहार दिखाते हुये अन्तमें मोक्ष प्राप्तिके लिये केवलीभगवान्के मुख निर्गत वचनावली सरस-श्लोकोंसे सज्जित नहीं की गई हो। इस बातकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये हम उन्हीं सहृदयोंसे प्रार्थना करते हैं जिन्होंने उभय काव्य (जैन, जैनेतर) रसका आश्वादन गवेषणा पूर्वक किया हो। यही जैन काव्यका सर्व प्रथम सुख और शांतिको प्रदान करनेवाला महत्त्व है। इस सर्व प्रथम महत्त्वका हम लोगोंको कम मूल्य नहीं समझना चाहिये।

एक वार एक पंडितराजने ऐसा कहा था कि "धर्मप्रधान काशीनगरीमें अध्ययन करनेवाले काव्यरसिकवृन्दोंमें बहुतसे रसिक वेश्यागमनादि दुश्चरित्रोंको सेवन करते हैं। इसका खास कारण यही है कि उन काव्योंमें शृंगाररसकी प्रधानताके साथ २ योग्य शिक्षा, धर्मोपदेशका नितान्त अभाव है।"

वह काव्य अनेक प्रकारका होता है, किन्तु दृश्य, श्रव्यके भेदसे दो प्रकारका है। दृश्य नाटक प्रकरणादिको कहते हैं। और श्रव्य काव्यके भेद बहुतसे हैं। यथा—महाकाव्य, खंडकाव्य, चम्पू—गद्यकाव्य, आख्यायिका इत्यादि हैं। इन्होंमें खासकर काव्य शब्दका उच्चारण करनेपर लौकिक प्रतीति -महाकाव्यकी होती है। इसी महाकाव्यमें जैनाचार्यसे कहा हुआ पूर्व काव्यका लक्षण याथातथ्येन घटता है। अतः नाटक, भांण इत्यादिसे उपर्युक्त काव्यलक्षणोंका प्रयोजन सुस्फुटतया, सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव हम प्राधान्येन महाकाव्योंकी ही उत्तमता बतलायेंगे। इससे पहिले काव्यलक्षणमें **"नेतृसद्वर्णनाढ्यं"** यह जो विशेषण हैं इसका अर्थ नेताका जो सद्वर्णन है अर्थात् जिससे पूर्वोक्त धर्मार्थकाममोक्ष प्रयोजनोंकी सिद्धि हो सकती हो ऐसे वर्णनसे आढ्य=प्रचुर हो।

जिसके ऊपर कवि अपनी शब्दार्थालंकारोंसे विभूषित तथा गुणोंसे सुशोभित सरस्वतीको सजाता है वह नेता कैसा होना चाहिये? नेताका लक्षण "साहित्यरत्नाकर" में ऐसा कहा है—

"महाकुलीनत्वमुदारता च तथा महाभाग्य विदग्धभागे।
तेजस्विता धार्मिकतोज्वलत्वममीगुणा जाग्रति नायकस्य॥"

अर्थात् महाकाव्यका नायक वही होसकता है जो महाकुलीन और बड़ा भारी उदार और महाभाग्यशाली, अतिशय विदग्ध और महा तेजस्वी, धार्मिक हो। संसारमें उपर्युक्त गुणविशिष्ट महाकाव्यके नायकको अनुसंधान करते हैं तो हमको अष्टादश दोषरहित, अनंत चतुष्टययुक्त तीर्थंकरोंको छोड़कर मानव जातिमें कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः द्वितीय सर्वोत्तम जैन काव्योंमें उत्तमता यही है कि प्रायः सम्पूर्ण महाका-

क्योंकि नायक तीर्थंकर या तद्भवमोक्षगामी ही हैं। उन तीर्थंकरोंको छोड़कर संसारमें ऐसा कौन माताका लाल है जो उनसे गुणशाली प्रमाणसे प्रसिद्ध हुआ हो। उनके सद्गुणोंसे आढ्य जैन महाकाव्यपुंज ही हैं। यथा महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्य चंद्रप्रभचरित्र, महाकाव्य पार्श्वनाथचरित्त; नेमिनिर्वाण इत्यादि।

अब हम यह दिखाते हैं कि महाकाव्यमें वर्णनीय विषयोंका सन्निवेश किस पांडित्यके साथ जैन कवियोंने किया है उसका भी थोड़ा नमूना सहृदयकाव्यरसास्वाद-निपुण पाठक महोदयोंकी सेवामें उपस्थित करते हैं। महाकाव्यमें १८ वर्णनीय विषय हैं। तैसा ही अलंकारचिंतामणिमें कहा है–

भूभृक्पत्नी पुरोधाः कुलवरतनुजाऽमात्यसेनेशदेश– ।
ग्रामश्रीपत्तनाब्जाकरशरधिनदोद्यानशैलाटवीन्दाः ॥
मंत्रो दूतः प्रयाणं समृगपतुरगेभार्तिरिन्द्वाश्रमाजि– ।
श्री वीवाहावियोगास्सुरतवरसुरा पुष्पवानर्मभेदाः ” ॥

(अलंकारचिंतामणी)

ये १८ वर्णनीयका यथा स्थानमें निवेश जैन महाकाव्योंमें जिस ढंगसे किया गया है, उसे जैन महाकाव्योंके अध्ययेन करनेवाले समझसकते हैं।

यहांपर प्रत्येक वर्णनीयका उद्धृत करनेसे यह लेख महत् ग्रंथाकार स्वरूपमें परिणत होजायगा अतः चुनेहुए विषयोंका नमूना दिखाकर आगे बढ़ेंगे। भूभृक् राजाका वर्णन हरएक जैनमहाकाव्योंमें भिन्न भिन्न रीति तथा भिन्न भिन्नालंकारोंसे सजाकर भिन्न२ कवियोंने वर्णन किया है। उसमेंसे पाठकोंके मनोरंजनके लिये महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदयमें हरिश्चन्द्रकविके पद्य दिखाते हैं।

गतेऽपि दृग्गोचरमत्र शत्रव स्त्रियोऽपि कंदर्पपत्रपा दधुः ।
किमद्भुतं तद्धतपंचसायकं यदद्रवन्संगरसंगताः क्षणात् ॥

(म० धर्मशर्माभ्युदय)

इस पद्यमें राजाका वर्णन वीररसके साथ२ सौन्दर्यका वर्णन श्लेषभंगीसे किस प्रकार किया है सो सुहृदय समझसकते हैं। तथा च

न मंत्रिणस्तंत्रजुषोऽपि रक्षितुं क्षमाः स्वमेतद्भुजगायसेः कचित् ।
इतीव भीत्या शिरसि द्विषो दधुस्तयङ्घ्रिचञ्चन्नखरत्नमंडलम् ॥

(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें क्लिष्ट रुपक मूल उत्प्रेक्षाका निवेश किस चातुर्यके साथ किया है, उसे चतुरशीरोमणि समझ सकते हैं।

तथा च-"तदीय निस्त्रिंशलसद्विधंतुदे बलाद्गिलत्युद्यतराजमंडलम् ।
निमज्ज्य धारासलिले स्वमुचकैर्दुर्दद्विजेभ्यः प्रविभज्य विद्विषः ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोक श्लिष्टपरम्परितरुपकका निवेश करते हुये कवि उस मार्गपर चले हैं कि शायद ही कोई कवि उस मार्गमें पहुंचा होगा। इस तरह नायक (राजा)का वर्णन कहाँ तक बताया जाय। एकसे एक सुन्दरसे सुन्दर पद्यरत्न जैनमहाकाव्यसमुद्रमें इस विषय पर उपस्थित हैं।

द्वितीय राजपत्नीका वर्णन महाकाव्यमें कहा गया है। इस वर्णनमें उसी धर्मशर्माभ्युदयमें कविने कैसा प्रतिभापाटव दिखलाया है। विनोदके लिये उसका भी २ या ३ पद्य उद्धृत करेंगे।

" प्रयाणलीलाजितराजहंसकं विशुद्धपार्ष्णि विजिगीषुवास्थितं ।
तदंघ्रिमालोक्य न कोषदण्डभाग्भियेव पद्मं जलदुर्गमत्यजत ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें एक विजगीषु नरेशके साथ राजपत्नीके पादका साम्य-श्लेष्योपमालंकारसे कैसा दिखाया है।

चक्षुका वर्णन करनेमें अनुपम श्लोक सहृदय महोदयोंकी सेवामें पेश करते हैं:-
जितास्मदुत्तं समहोत्पलैर्युवां क याथ इत्यध्वनिरोधिनोरिव ।
उपात्तकोपे इव कर्णयोः सदा तदीक्षणे जग्मतुरन्तशोणताम् ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इसकी उत्प्रेक्षा क्या ही अनोखी है।

तथा देश वर्णनमें चन्द्रोपल (चन्द्रमणि) के प्रासाद पंक्तिके साथ एक श्लेषरीतिसे वरवर्णनीयका साम्य देखिये।
व्यापार्य सज्जालकसंनिवेशे करानभिप्रेङ्खति यत्र राज्ञि ।
द्रवत्यनीचैस्तनुकूटरम्या कान्तेव चन्द्रोपलहर्म्यपङ्क्तिः ॥ "
(धर्मशर्माभ्युदय)

इसी प्रकार ग्रामवर्णनमें स्वर्गसे व्यतिरेकको दिखाते हुये एक पद्य किस रीतिसे लिखा गया है। इसकी उत्तमता हमारे भव्य सभ्य पाठकवृन्द ही विचारें।
" अनेक पद्माप्सरसः समन्ताद्यास्मिन्नसंरुपाताहिरण्यगर्भाः ।
अनंतपीताम्बरधामरम्या ग्रामा जयन्ति त्रिदिवप्रदेशान् " ॥
(म० धर्मशर्माभ्युदय)

यद्यपि शैलके वर्णनके उदाहरणमें बहुतसे जैन महाकाव्य उपस्थित हैं, हम इसके उदाहरण स्वरूप महाकवि श्री हरिश्चन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदयका दसवां सर्ग सम्पूर्ण देना चाहते हैं क्योंकि कविने ऐसी उत्तमताके साथ शैल वर्णन किया है कि शायद ही किसी कविने ऐसा वर्णन अपने काव्यमें किया हो लेकिन लेख बृहद् न होनेकी चिंता हमको रोकती है, फिर हम इसका उदाहरण अवश्य देंगे।

" यत्राम्बुजेषु भ्रमरावलीनामेणावली सत्तमरावलीना।
पपौ सरस्याशुनरं गतान्तं न वारि विस्फारितरङ्गतान्तरम् ॥ "

(महा. धर्मशर्माभ्युदय

इस पद्यमें यमकालंकारके साथ १ स्वभावोक्तिका कैसा मणिकांचन योग हुआ है यह देखकर चित्त गद्गद होता है। तथा च—

" दूरेण दावानलशङ्कया मृगास्त्यजन्ति शोणोपलसंचयद्युतीः।
इहोच्छलच्छोणितनिर्झराशया लिहन्ति च प्रीतिजुषः क्षणं शिवाः ॥ "

(धर्मशर्माभ्युदय)

पर्वत तपस्या करनेका प्रधान स्थान है। इस बातको दिखानेके लिये मोक्षनगरका अत्यंत दुर्गमार्गमें जिनेन्द्ररूपी सार्थवाहको प्राप्त कर अगाड़ी पैर रखनेके लिये यह पर्वत प्रथम स्थान है। यह रुपक शांतरसको पिलाता हुआ कैसा आल्हादकारी है।

ऋतु वर्णनका भी जैन महा काव्योंमें सर्वत्र वर्णन किया गया है। उसमें भी हरिश्चंद्र कविका चारुरीतियुक्त वर्णनके श्लोक प्रियपाठकोंकी भेंट अवश्य करेंगे।

" कतिपयैर्दशनैरिव कोरकैः कुरवकप्रभवैर्विहसन्मुखः।
शिशुरिव स्खलितस्खलितं मधुः पदमदादमदालिनि कानने ॥ "

इस श्लोकमें वसंतका आगमन हास्य करते हुए शिशुके साथ उपमा देते हुए क्या ही अच्छा वर्णन किया है।

इसी तरह इसी ग्रन्थ धर्मशर्माभ्युदयमें ग्रीष्मवर्णनमें कुत्तोंकी जीभ निकलनेमें कविराजने क्या ही अच्छी उत्प्रेक्षा की है।

"इह शुना रसना वदनाद्बहिर्निरगमन्नवपल्लवचञ्चला।
हृदि खरांशुकरप्रकरार्पिताः किमकृशानुकृशानुशिखाः शुचौ ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

तथा वर्षावर्णनमें भी इसी कविका उत्तम श्लोक उद्धृत करते हैं।

" भुवनतापकमर्कमिवेक्षितुं कलितकान्तचलद्युतिदीपिका ।
दिशि दिशि प्रससार कृषीवतां सह मुदारमुदारघनावलिः " ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें आकाशमें घनघटाका विचरण और विद्युत्‌का चमकना इस पर कवि उत्प्रेक्षा करते हैं। संसारको ताप देनेवाला सूर्य कहां चला गया यह देखनेके लिये मानों हस्तमें दीपक लेकर यह घनावली कृषकोंके आनन्दके साथ साथ दिशाओंमें फेल रही है।

शरदकालके वर्णनमें भी इस कविका बुद्धिपाटव देखिये—

" हृदयहारिहरिन्मणिकण्ठकाकलितशोणमणीव नभःश्रियः ॥
ततिरदैक्षि जनैः शुकपत्रिणां भ्रमवताभ्रमतारितकौतुका " ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें शरदकालमें शुकावलीका वर्णन नभश्रीके गलेमें पद्मरागमणि जटित इन्द्रनीलमणियोंका हारसाम्य देतेहुए क्या ही अच्छा पद्य गाया है।

तथा इसी कविका शिशिर वर्णनमें अनुपम श्लोक लीजिये—

" स महिमोदयतः शिशिरो वधादपहृतप्रसरत्कमलाः प्रजाः ।
इति कृपालुरिवाश्रितदक्षिणो दिनकरो न करोपचयं दधौ " ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें शिशिर वर्णनके साथ प्रजापीड़क नरेश अर्थात् प्रजाओंका रक्त चूसने पर दूसरा दयालु कैसा स्वार्थ त्याग करता है इस बातको शिशिरकाल और सूर्यके छलसे कमला और दक्षिण कर शब्दको श्लिष्ट बनाते हुए कैसा विलक्षण विनिवेश किया है।

पुष्पावचयके वर्णनमें एक शास्त्राभ्यासी सच्चरित्र असद्संसर्गसे अपने चरित्रसे च्युत होने पर दूसरा दर्शक कैसा आश्चर्यसे निप्रभ हो जाता है इस बातको श्लेषभंगीसे वृक्ष और वन, फूलमें कैसा घटाया है।

" प्रमत्तकान्ताकरसंगमादमी सदागमाभ्यासरसोज्ज्वला अपि ।
क्षणान्निपेतुः सुमनोगणा यतो ह्यियेव विच्छायमभूत्ततो वनम् ॥ "

इसी तरह महाकाव्यका अष्टादश वर्णनीय हम कहां तक लिखें? जिस तरहसे हमने श्रीयुत कविराज हरिश्चन्द्रजीके कुछ पद्य दृष्टांत रूपमें आपके सन्मुख पेश किये हैं उसी तरह यदि महाकाव्य चन्द्रप्रभचरित, पार्श्वाभ्युदय, यशस्तिलकचम्पू आदिका एक एक अत्युत्कृष्ट पद्य उद्धृत करें तो एक बड़ा भारी अद्वितीय ग्रंथ हो जायगा जो कि कविगणोंके लिये आश्चर्यवर्धक एवं च नया ढंगका शिक्षक होगा। लेख बढ़नेकी वीभत्सक भयसे हम इस विषयको यहींपर छोड़कर आगे बढ़ेंगे। और अन्य अन्य विषयोंपर दृष्टिपात करते हैं।

वास्तवमें कोई निरपेक्ष सज्जन सुहृदयवर काव्यपरीक्षक जिस समय निरपेक्ष चश्माको लगाकर यदि काव्योंकी उत्तमताका विचार करेगा तो हम इस बातको दावेके साथ कह सकते हैं कि जैन काव्योंकी ही सर्व प्रथम उत्तमता उसे ज्ञात होगी क्योंकि जैन काव्य-समुदाय, शब्दालंकार, अर्थालंकारोंके पुंजोंसे विभूषित एवं च नवरस सहित, सुरीति भावोंसे मनोहर, पद पदके व्यंगादि अर्थसे आश्चर्यको करनेवाला, गुणोंकी पंक्ति, बद्धमालासे घिरा हुआ एक अद्वितीयताको लिये हुए है। वास्तवमें जिस समय मेघमालासे आच्छादित सूर्य रूपी जैन काव्यसमुदायकी एक किरण त्रैमासिक पत्र "जैनसिद्धांतभास्कर" में प्रकाशित हुई उसी समयसे ही जैनकाव्यकी उत्तमता सिद्ध हो चुकी थी। हम भी अपने पाठकवृन्दोंके लिये इस किरणको देकर समस्त हृदयकमलोंको प्रकाशित किये देते हैं:—

"ताताँ ताती तताँ ततति तता तता ताति ताती ततत्ता।
तात्ताताँ तताती ततति ततितता तत्ततत्ते तितंतिः॥
ताताताऽऽतः तिलाती ततनु ततितताँ ततिता तूति तत्ते।
ताते तितो तुतात्ता ततुतति तुत्तितां तत्तु तोत्त॥

यह श्लोक त्रैमासिकपत्र "जैनसिद्धांत भास्कर" में प्रकाशित हुआ था, और उसका अर्थ लगानेके लिये २५०) पारितोषिक मिलनेके लिये भी सूचना थी। अर्वाचीन दुनियांके समस्त संस्कृतके विद्वानोंमेंसे किसीने भी इसका अर्थ न लगा पाया। अवधिके पूर्ण होनेपर पत्रके सुयोग्य सम्पादक एवं च देशकी वेदीपर त्यागधर्मको करनेवाले देश-भक्त पदमराजजी रानीवालोंने इसके लिये द्विगुणित पारितोषिक बढ़ाया पर भी आजतक किसी भी माईके लालने इस श्लोकका अर्थ न लगा पाया।

काशीके अन्दर काव्य विषयके उत्तम२ विद्वान् उपस्थित हैं जिन्होंने कि काव्य पढ़नेमें ही अपने जीवनको बिताया है। एक विद्वान् जिसने कि काव्यके बड़े२ ग्रंथ अध्ययन किये थे, तथा उनको ९८ चम्पू कंठस्थ थे, बोले कि यह श्लोक अशुद्ध है क्योंकि मैंने तमाम संस्कृत कोषोंके आधार पर इस श्लोकको १ माहतक लगाया है, किन्तु यह लगता नहीं है। इसपर एक सज्जनवृंदने कहा कि "प्राचीन ग्रंथोंके संग्रहस्वरूप ऐसे "जैनसिद्धांतभवन" आरामें जाकर इस श्लोकके अर्थको पढ़कर हे काशी नगरीके प्रधान काव्यपंडित! आप अपनी पंडितमानिताको त्यागकर जैन काव्योंका एक तरफसे ध्यान पूर्वक देखना प्रारम्भ कर दीजिये, आपको मंजिल मंजिलपर शब्दार्थालंकारोंकी कुटियोंमें नूतन रससे भरे हुए ऐसे गुणगणमय फल मिलेंगे जिनके कि आप स्वादको लेकर अपने जीवनको धन्य तथा च कृतकृत्य मानेंगे।"

पाठक महाशय ! इस श्लोकका अर्थ जैनसिद्धांतभवनमें उपस्थित है । एक समय जिनेंद्रभूषण भट्टारक श्री तीर्थराज सम्मेदसिखरजीकी वन्दनार्थ काशी होते हुए पालकी द्वारा जारहे थे । जैनेतर वैष्णव विद्वानोंको यह सह्य न होकर उन्होंने पालकी रोकली और कहा कि जब तक आप शास्त्रार्थमें हम लोगोको नहीं हरादेंगे तब तक हम आपको पालकी द्वारा नहीं जाने देंगे । क्षमाभार नम्र भट्टारक जिनेंद्रभूषणके हृदयमें श्री तीर्थराजकी वन्दनाके लिये बहुत व्याकुलता तथा च जल्दी थी । अतः उन्होंने काशीके विद्वत्समाजसे यह कहा कि **"आप जबतक इस श्लोकका अर्थ लगावें तबतक मैं वन्दना करके वापिस आता हूँ और शास्त्रार्थ करूँगा"** बादमें श्री १००८ भट्टारकजी श्री तीर्थराजकी वन्दनाकर वापिस आये । तब मालूम हुआ कि किसी भी पंडितराजसे यह श्लोक नहीं लगता । इतनेमें एक नैयायिक महाशयने कहा कि इस शब्दोंके वितण्डावादको त्यागकर आप अपनी प्रतिज्ञानुसार हमसे शास्त्रार्थ कीजिये । तब शास्त्रार्थ हुआ और **'सत्यमेव जयति नानृतं"** इस नीतिके अनुसार जैनियोंकी विजय तथा विपक्षियोंकी पराजय हुई ।

विज्ञपाठकवृंद ! काव्य शब्दका अर्थ केवल महाकाव्य ही नहीं है किन्तु वन्दनीय जैनालंकारों और इतरालंकारिकोंकी अपेक्षा दृश्य श्रव्य इस तरह दो प्रकारका है—

प्रथम काव्यभाग दृश्यको बतलाते हैं । नाटक सट्टक भाँड प्रकरण इत्यादिको दृश्य काव्य कहा है । प्रियपाठकवृन्द ! नाटकादिकी उत्तमता तभी ज्ञात होती है जब कि वह रंगमंच पर खेला जाकर भव्य नाट्यदर्शकोंको अपनी उत्तमताका प्रदर्शक हो, क्योंकि नाटककी उत्तमता रंगमंच पर ही खेले जाने पर प्रगट होती है। फिर भी हम इस बातको स्वाभिमानके साथ प्रियपाठकोंकी हृदयस्थलीमें बैठाते हैं कि जो जैन नाटकवृन्द विक्रांतकौरवादि हैं वह जैनेतर शकुंतलादि नाटकोंसे विशेषोत्तम हैं । मेरे ख्यालसे अज्ञानावस्थामें सोती हुई जैन समाजके पर्यंकके नीचे स्थित, तथा थोड़े कालसे प्रोद्भूत जैन नाटकवृंद अभी तक निर्पेक्ष पश्चिमीय संस्कृत विद्वित्परिषद्के पास नहीं पहुंचा । नहीं तो अवश्य ही ये निर्पेक्ष समालोचना कर इस जैन नाटकवृंदको उच्चस्थान देते । जिस समय हम विक्रांतकौरवादि जैन नाटकोंकी पंचसंधि, पताकास्थान, प्रवेशक, विष्कंभकादिका निवेशचातुर्य, पदमनोहारितापर दृष्टिपात करते हैं तो हस्तिमल्लि कविके नाटकों परसे दृष्टि उठना नहीं चाहती । तब कालिदासका "शकुन्तला" नाटक बिलकुल फीका हो जाता है ।

हमारे पाठकवृन्द इस बातसे परिचित ही होंगे कि जैन नाटक रचयिता पूज्याचार्य श्री हस्तिमल्लिके दृश्यकाव्य लीलाकी तारीफ प्राचीन विद्वानोंने बहुत

श्लोकबद्ध शब्दोंसे की है। वास्तवमें हस्तिमल्लिके विक्रान्तकौरवनाटककी नाट्यकलामें नैपुण्यको देखकर हृदय उनकी तरफ भक्तियुक्त हो जाता है।

प्रियपाठकवृंद ! अब हम इस दृश्यभाग नाटकादिकी उत्तमताको सिद्धकर सिद्ध साध्यताको न बताकर आगे श्रव्यके ऊपर आप लोगोंके चित्तको आकर्षित करते हैं।

श्रव्य काव्योंमें द्विसंधानादि जैन महाकाव्योंमें काव्यके अष्टादश वर्णनीयका अनुपम, अद्वितीय निवेश करते हुए काव्य पढ़नेका अत्युत्कृष्ट उत्तम-फल सुखधाम (शांतिनिकेतन मोक्ष)की प्राप्तिके लिये प्रातःस्मर्णीय एवं च जगद्वन्दनीय केवली भगवानके उपदेशको सन्निवेश करते हुए जो अद्वितीय महत्व अटकते हुए जगतको बतलाया है इसको कहकर हम यहाँपर पिष्टपेषण नहीं करना चाहते, अतः हम आगे बढ़ते हैं।

प्रियपाठकवृन्द! ज्यों ही हम आगे बढ़नेको लेखनी चलाते हैं, लेखनी इकाइक रुद्ध होजाती है, क्योंकि लेखनी संचालक हस्त, अपने मन-नरेशकी आज्ञा (जैन महाकाव्य सागरोंमें ही यशस्तिलकचम्पू स्वयम्भूरमण समुद्र नहीं है बल्कि समस्त सांसारिक काव्योंमें यह स्वयंभूरमण समुद्र है) के खिलाफ जरा भी नहीं बढ़ना चाहते हैं। अतः मान्यवर पाठकवृंद इस प्राकृतिक नियमसे बद्ध हम जैन काव्यके अंश "चम्पू" की समालोचना बतलाते हैं। "चम्पू" की समालोचनाके लिये लेखनी उठनेपर "यशस्तिलकचम्पू" का नाम स्मरण आते ही हमारे आनंदरोमाँच खड़े होजाते हैं। क्योंकि हम एक एकसे उत्तम काव्यनिकुँजमें इस समय प्रवेश करते हैं जो कि चम्पूनिकुँजमें ही प्रधान नहीं है बल्कि जगतके काव्य निकुँजमें कोई दूसरा काव्य-निकुँज इसकी सानीका नहीं है। प्रियपाठकवृन्द! यह हमारी अतिशयोक्ति नहीं है। यह बात काव्य रसास्वादी निरपेक्ष विद्वानोंने ही मानी है। इस प्रधान काव्यका हृद्य गद्यपद्य देखनेसे दूसरा ग्रंथ देखनेकी इच्छा ही नहीं होती। उसीमें ही गद्यकाव्य, पद्यकाव्यका आस्वाद उत्तम विस्तृत रीतिसे पाया जाता है। इसमें काव्य वर्णनीयका कोई भी वर्णन ऐसा नहीं है, जो अत्यंत उद्भट रीतिसे वर्णन नहीं किया गया हो। इसकी गद्य इतनी उत्तम है, कि कादम्बरी लज्जितके साथ साथ बिलकुल तुच्छ मालूम पड़ती है इसकी गद्यको लिखते हुए कविने एक ही मार्गका आश्रय नहीं लिया है, किंतु वर्णनीयके अनुरोधसे कहीं २ समास बहुल गौणीरीतिका सहारा लिया है। माननीय समालोचकवृंद ! "**दृष्टान्तेन स्फुटायते मतिः**" इस आर्षसिद्धांतानुसार एक दृष्टांत देनेपर यह बात बिलकुल स्फुट हो जायगी। मेरे बहुत खोजनेपर "यशस्तिलकचम्पू" में से यह हृद्य गद्य आप लोगोंकी भेट करता हूँ। "**यत्रोद्याने क्रीड़ासु सुन्दरी जनैनसह कामिनः रमन्ते**" इसवाक्यमें जो उद्यान शब्द है उसका कविने कैसा अभूतपूर्व अद्वितीय मनोहर वर्णन किया है।

यत्र च मधुकरकुटुम्बिनीनिकुरम्बाडम्बरचुम्ब्यमानमकरन्दकदम्बस्तम्बविलम्बितनितम्बिनीविम्बाधरपानपरवशविलासिनि, सुरतसुखोन्मुखमुखरपरिखेलत्सखीसखानेकखगप्रेङ्खनखमुखावलिख्यमानफलितशिखरैः समीपशाखिभिः स्खलितप्रसंख्यानमखसंमुखीनवैखानसमानसे, कितविकितवसहचरोपरचितकरवाद्यलयलास्यमानमधुमत्तसीमन्तिनीसमालोकनकुतूहलमिलद्वनदेवताभराभुग्नककुभविटपिनि, चटचिटपविटङ्कसंकटकोटरोपविष्टवाचाटशुकपेटकपठ्यमानेन विटविकटरताटोपचाटुपाटवेन भिद्यमानमुनिमनःकपाटपुटसंधिबन्धे, विकिरकुलकद्दलवशविशीर्यमाणकुरवकतरुमुकुरमुक्ताफलितवितर्दिकावलिकर्मणि, चपलकपिसंपातलुप्तमानभराभिर्निर्भरविभ्रमारम्भसंभ्रमाभिर्भामिनीभिः परिरभ्यमाणनिभृतसरसापराधवल्लभे, भुजमूलपुलकवितरणरतकान्तकेतवान्तरायितयुवतिपुष्पावचितिनि, सरलद्रुमस्तम्भसंभूतसंभूतलताशोकततिविनिर्मितासुपीनस्तनलिखितपत्रलाञ्छितोरःस्थलरमणरसरभसोच्छलदुत्तालचलनासुलीलान्दोलासु विलसन्तीनां विलासिनीनां मुखरमणिमेखलाजालवाचालिमबहलपंचमालप्तिपल्लवितविरहवीरुधि, जम्बूकुञ्जकुञ्जगुञ्जत्पारापतपतङ्गसंदीपितमदनमददरिद्रितसुन्दरीसंभोगहुतवहे, कदलीदलातपत्रोत्तम्भनभारभरितभर्तृभुजाभोगसंभावनविकटकुचकुम्भमण्डलानामितस्ततो विहरन्तीनां रम्भोरूणामनवरतझणझणायमानमणिमंजीरशिञ्जिताकुलितनलकेलिदीर्घिकाकलहंससंसदि, रमणरतिरतवनितारतिरसोत्सेकविचलद्विकचविचकिलपालम्बामोदसुरभितसुभगभुजङ्गनाभीवलीभगर्भे, तमालदलनिर्यासरसपूरितकरकिशलयपुटेन यमितनखलेखनीधारिणा खचरनिचयेन रच्यमानसहचरीकपोलफलकतलतिलकविचित्रपत्रभङ्गिनि, खलरताभियुक्तकुट्टहारिकातान्तुलकोत्तरलतरतोत्थावितनिचुल (चु) लमूलविलनिलीनोलूकबालकालोकनाकुलकाकोलकुलकोलाहलकाहले, पटुलकोकिलप्रलापगलितलज्जस्यनिसर्गादुत्तालतरसुरतसंरम्भिणाः पण्याङ्गनाजनस्य फलगलोलपल्लोइलोलपितानुलपनपरसारिकाशावसंकुलकुलायकरलोपकण्ठजरठिताभिनवाङ्गानारतिचेतसि माकन्दमञ्जरीमकरन्दबिन्दुस्यन्दसुदुर्दिनेन मुचकुन्दमुकुलपरिमलोल्लासिना प्रचलाकिकुलकलापसीमन्तोचितेन वातचातकेनाचम्पगानसुरतश्रमखिन्नखेचरीपयोधरमुसलुलितघनघर्मजलमञ्जरीजाले, निधुवनविधिविधुरपुरन्ध्रिकाधरदलदपितदीप्यमानाननचषकचारितदर्दरीकवीजसीधुनि, पुण्ड्रेक्षुकाण्डमण्डसंपातिनीभिः पिङ्गपरिषद्भिश्चण्डतरमुखमरितडिण्डिमारवाकाण्डताण्डवितशिखण्डिमण्डले, मृद्वीकाफलगलनचटुलकामिनीकरवलयमणिमरीचिमेचकितकिंकिरातराजिनि, नालिकेरफलसलिलविलुप्यमानमिथुनमन्मथकलहावसानपयःपानातुच्छवांच्छे, कन्दुकविनोदव्याजनिस्तारितविभ्रमेणतरुणजनसंनिधानविवृद्धशृङ्गारमत्सरेण भ्रमविभ्रमोद्भ्रान्तभासत्परिमलमिलन्दसुंदरीसंदोहमण्डितापाङ्गपातेन विश्वोकिनी समाजेन यावकारुणचरणपाटलितवकुलालवालभूमिनि, रजनिरसपिञ्जरितकुचकलशमण्डलाभिर्महीरुहनिवहमहिलाभिरिव परिपाकपेशलफलविनतमध्यमिर्वीजपूरवल्लरीभिरपराभिश्च वृक्षौषधिवनस्पति-

लताभिरतिरमणीये, नरखचरामराणां मिथः संभोगलक्ष्मीमिव दर्शयति निखिलभुवनवनानां श्रियमिवादाय जातजन्मनि, रोध्रवरागवैध्रचयनीरन्ध्रितकेतकीरजःपटलनिर्मलितकपोलदर्पणेनविविधकुसुमदलविनिर्मितललामकर्मणा कुटजकुड्मलोत्वणमल्लिकानुगतकुन्तलकलापेन तापिच्छगुलुच्छविच्छुरितशतपत्रीसृक्संनद्धचिकुरभङ्गिना मरुवकोद्भेदविदर्भितदमनकाण्डशिखंडितकेशपाशेन प्रियालमंजरीकणकलितकर्णिकारकेसरविराजितसीमन्तसंततिना चम्पकचितविकचकच(काञ्च)नाराविरचितावतंसेन माधवीप्रसूनगर्भगुम्फितपुन्नागमालाविलासिना रक्तोत्पलनालान्तरालमृणालवलया कुलशकोटेन (?) सौगन्धिकानुबद्धकमलकेपूरपर्यायिणा, सिन्दूरवारसरकुसुन्दरकदलीप्रवालमेखलेन शिरीषवशवाणकृतजंघालंकारचारुणा मधुकानुविद्धबन्धूकप्रतनूपुरभूषणेन अन्यासु च तासु तासु कामदेवकिलिकिञ्चितोचितासु क्रीणासु बद्धानन्देन सुन्दरी जनेन सह रमन्ते कामिनः” (यशस्तिलकचम्पू १ आश्वास)

भो काव्यरसिकगण! यह चम्पूकी वनक्रीड़ाके वर्णनका कुछ थोड़ासा अंश आप लोगोंकी सेवामें भेट है। जिससे कि आपको भलीभांति समझमें आसकता है कि चम्पू अद्वितीय ग्रंथ है। उपरिलिखित हृद्यगद्यमें कविने कैसी अनुपम अनुप्रासमाला पहनाई है। काव्य पाठकवृन्दोंको यह तो विदित ही होगा कि उपमा, विरोध, श्लेष, परिसंख्या आदिकी रचना तो प्रत्युत सरल है किन्तु अनुप्रासोंका बनाना उच्चतम भूषण है। कादम्बरी तथा माघकविके शिशुपालवधमें ऐसी अनुप्रासोंका अद्भुत छटाटोप नहीं पाया जाता। इस उपर्युक्त हृद्यगद्यमें पूज्याचार्यने जैसी अनुपम और अद्वितीय अनुप्रासमाला पहिनाई है उसी प्रकार प्रियकाव्यरसिकवृन्दोंके आस्वादके लिये माधुर्यगुण कैसा पद्य पद्यमें अद्भुत भरा हुआ है। जहाँतक आप काव्यसागरमें गोते लगायेंगे आपको यह बात अच्छी तरहसे ज्ञात हो जायगी कि माधुर्यगुण, उत्तमतासे जैन काव्योंमें ही पायाजाता है। शायद मैं इसका कारण जैन काव्योंके रचयिता आचार्यगणोंकी क्षमा, अहिंसा तथा वैराग्य समझता हूं। यह बात विना दृष्टांतके शायद आप लोगोंकी समझमें नहीं आवे। हम प्रसिद्ध जैनेतर काव्य "काव्यप्रदीप" के दो श्लोक इस बातके निर्णयके लिये देंगे—

"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा।
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः॥
भिन्द्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमयोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्॥

(काव्यप्रदीप प्रथम उल्लास)

अन्यच्च–

" कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कं कं कः कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ॥
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः ।
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पंचाननो वर्तते " ॥

(काव्यप्रदीप ७ वां उल्लास)

इन श्लोकोंमें हम अनुप्रास बहुल कह सकते हैं। लेकिन साथमें रौद्ररस भी पद पदपर टपकता है। किन्तु हमने जो ऊपर " यशस्तिलक " की मनोहर गद्य अनुप्रासमय दी थी उसमें पद पदपर माधुर्य भरा हुआ है। आप इस गद्यके दृष्टांतसे अवश्य ही समझ गये होंगे कि " यशस्तिलचम्पू " एक, अद्वितीय काव्य है। किन्तु इस काव्यमें कादंबरी, शिशुपालवध, नीलचम्पू, आदिकी तरह श्रृंगाररस ही नहीं भरा किन्तु यह लोकोपकारि-शिक्षाओंका निकेतन है।

प्राय: पाश्चात्य विशारद भारतीय काव्यरत्नोंकी समालोचनाओंमें सर्व प्रथम यह दोष निकालते हैं कि इनमें स्त्रियोंका सौन्दर्य, स्त्रीपुरुषोंका प्रेम तथा उसका निभाना आदि निरुपयोगी विषयोंपर ही भारतीयकाव्यरचयिताओंने शब्दार्थालंकारोंसे शोभायमान सरस्वतीको सजाया है, कोई अच्छे २ विषयों पर रचते तो कितना अच्छा उपकार होता " आदि।

वास्तवमें यूरुपीय सज्जनसमालोचक जो इस दोषको प्रधानस्थान देते हैं वह प्राय: ठीक ही माद्धम पड़ता है, क्योंकि कालिदास कविके ग्रंथोंमें तथा कादम्बरी आदि काव्य-ग्रंथोंमें आदिसे अंततक यह ही श्रृंगाररस पाया जाता है। हम अपने पाठकोंको कालि-दासका श्रृंगाररसकी मदोन्मत्ततामें एक उदाहरण भेट करते हैं–

वागार्थाविवसंपृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतःपितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

इस श्लोकके अनुसार कवि कालिदासने महादेव पिता, तथा माता पार्वतीको मानकर नमस्कार किया है किन्तु ये ही कवि कालिदासजी अपने "कुमारसंभव" में क्या वर्णन करते हैं–

गम्भीरनाभीह्रदसंनिधाने, रराज नीला नवलोमराजिः।
मुखेन्दुभीरुस्तनचक्रवाकचंचच्च्युता शैवलमंजरीव ॥

इस श्लोकमें " श्रृंगाररसोन्मत्त " कवि कालिदास उसी माता पार्वतीकी योनिका वर्णन

करनेमें शर्माते नहीं हैं यह अत्यंत घृणास्पद है। किंतु हम इस बातको बड़े स्वाभिमानके साथ कहते हैं कि जैन काव्योंमें श्रृंगार रसको प्रायः निम्न स्थान ही मिला है। तथा शांति वीर करुणादि लोकोपयोगी रसोंको प्रधान स्थान मिला है। तथा जैन काव्योंकी रचना श्रृंगाररसको प्रधानकर संसारमें व्यभिचारादि अशुभ परिणामोंके निमित्त जैनेतर काव्योंकी तरह नहीं हुई, बल्कि लोकोपकारी विषयोंको उच्च स्थान ही मिला है। उदाहरणार्थ हम यशस्तिलकचम्पूको ही लेते हैं। इस काव्यमें जो दिनचर्या, ऋतुचर्या आदिका जो वर्णन किया है वह अत्यंत उत्कृष्ट है। किसी काव्यग्रंथोंमें तो यह विषय पाया जाता ही नहीं, बल्कि किसी भी वैद्यकग्रंथने ऐसी चारु सरल मधुररीतिसे वर्णन नहीं किया होगा। पाठकोंके विनोदार्थ हम चम्पूके कुछ श्लोक अवश्य देंगे–

स्थाल्यां यथा नावरणानतायामघट्टितायां च न साधुपाकः।
अलातनिद्रस्य तथा नरेन्द्र! व्यायामहीनस्य च नान्नपाकः॥

अर्थ–हे राजन्! जैसे बिना ढके हुए मुखवाली तथा नहीं ढारी गई ऐसी स्थाली (बटलोई) में अच्छा पाक नहीं बनता तथैव बिना निद्राको लिये हुए, तथा बिना व्यायाम किये हुए पुरुषको अन्न नहीं पचता।

अभ्यङ्गः श्रमवातहा बलकरः कायस्य दार्ढ्यावहः।
स्यादुद्वर्तनमङ्गकान्तिकरणं मेदः कफालस्यजित्॥
आयुष्यं हृदयप्रसादि वपुषः कण्डूक्लमच्छेदि च।
स्नानं देव यथर्तुसेवितमिदं शीतैरशीतैर्जलैः॥ (यशस्तिलकचम्पू)

अर्थात्–हे देव! तैलमर्दन श्रम और वातको नाश करनेवाला है, और शिथिलताको निवारण करनेवाला तथा च शरीरको बलयुक्त करनेवाला है। तथा उबटन शरीरकी कान्तिको करनेवाला तथा च मेद, कफ, आलस्यको दूर करनेवाला है और हे देव! ऋतुके अनुकूल सेवन किया गया स्नान गर्म, ठंडे जलसे आयुके लिये हितकर, हृदयको प्रसन्न करनेवाला, शरीरकी खुजली, ग्लानिको नष्ट करनेवाला है।

द्रुमाद्यमागातपितोऽम्बुसेवी, श्रान्तः कृताशो वमनज्वरार्हः।
भगन्दरी स्यन्दविबन्धकाले गुल्मी जिहासुर्विहिताशनश्च॥

अर्थात्–घामसे पीडित ऐसा मनुष्य यदि जलको पीवै तो उसकी मन्दहष्टि होजाती है, तथा मार्ग श्रान्त अर्थात् मार्गके चलनेसे श्रमको प्राप्त ऐसा मनुष्य यदि जलको सेवन करे तो वमन, बुखारको प्राप्त होवे, तथा मलमूत्रबाधासे सहित मनुष्य भक्षण करे तो भगन्दरी रोग होजाता है, तथा जो मनुष्य त्याग करनेकी इच्छा रखता हुआ भोजनसे अफरा हुआ भी खावे तो गुल्मी रोग होवे। (अपूर्ण)

स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्यः ।
संतर्पितातिथिजनः सुमनाः सुवेषः ।
आप्तैर्वृतो रहसि भोजनकृत्तथा स्यात्
सायं यथा भवति भुक्तिकरोऽभिलाषः ॥ (यश०)

अर्थात् स्नानको करके विधिके अनुसार जिनेद्रार्चाको कर अपने अतिथिजनोंको संतुष्टकर, निराकुलचित्त होकर अच्छे वेषको धारणकर अपने हितजन गुरु आदिकोंसे युक्त एकान्तमें यदि भोजनको करे तो संध्याके समयमें उसकी भोजन करनेमें रुचि होती है ।

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले
मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते ।
भुक्तिं जगाद नृपते मम चैष सर्ग-
स्तस्याः स एव समयो क्षुधितः यदैव ॥

अर्थात् हे राजन् ! चारायण नामक वैद्यने रात्रिमें भोजन करनेके लिये कहा है तथा तिमि नामक वैद्यने संध्याकालमें, धिषण नामक वैद्यने दोपहरके समयमें, तथा चरक-नामक वैद्यने सुवहके समयमें भोजन करनेको कहा है । लेकिन मेरा तो इस विषयपर ऐसा मत है कि जिसको जब भूख लगे उसी समय भोजन करे ।

अधिगतसुखनिन्द्रः सुप्रसन्नेन्द्रियात्मा ।
सुलघुजठरवृत्तिर्भुक्तपक्तिं दधानः ॥
श्रमभरपरिखिन्नः स्नेहसंमर्दिताङ्गः ।
सवनगृहमुपेयाद्भूपतिर्मज्जनाय ॥

अर्थात्—प्राप्त किया है सुखनींदको जिसने, अच्छी तरह प्रसन्न हैं इन्द्रिय, आत्मा जिसकी, तथा बहुत थोड़ी है जठरकी वृत्ति (क्षुधा) जिसकी, भोजनको पचाता हुआ ऐसा और बहुत श्रमसे खिन्न ऐसा भूपति, तैलको शरीरमें मर्दनकर स्नान करनेकेलिये स्नान-गृहको जावे ।

आदौ स्वादु स्निग्धं गुरु मध्ये लवणमम्लमुपसेव्यम् ।
रूक्षं द्रवं च पश्चान्न च भुक्त्वा भक्षयेत्किंचित् ॥

भोजनके आदिमें स्वादयुक्त, घृतयुक्त भारी भोजन करना चाहिये । बीचमें लवण-युक्त आम्लके रससे युक्त भोजन करना चाहिये, पीछेसे रूक्षाहार करना चाहिये, तथा भोजन करके कुछ नहीं खाना चाहिये ।

शिशिरसुरभिघर्मेष्वातपाम्भः शरत्सु, क्षितिप जलशरद्धेमन्तकालेषु चैते।
कफपवनहुताशा संचयं च प्रकोप ॥

हे राजन् ! शिशिर ऋतु (माघ फाल्गुन) में कफका संचय होता है, सुरभि (वसन्त-चैत्र वैसाख) ऋतुमें कफका प्रकोप होता है, और घर्मऋतु (ज्येष्ठ, आषाढ़) में कफ शांतिको प्राप्त होता है, गर्मीमें वायु संचयको प्राप्त होता है, श्रावणमास, भादोमासमें पवन प्रकोप होता है, शरद ऋतु (आश्विन कार्तिक) में पवन शांतिको प्राप्त होता है शरदऋतुमें पित्त संचय होता है, मार्गशीर्ष पौष मासमें पित्त प्रकोप होता है, माघ फाल्गुन मासमें पित्त शान्त होता है।

तदिह शरदि सेव्यं स्वादु तिक्तं कषायं ।
मधुरलवणमम्लं नीरनीहारकाले ।
नृपवर ! मधुमासे तीक्ष्णतिक्तं कषायं ।
प्रशमरसमथान्नं ग्रीष्मकालागमे च ॥

अर्थात हे सम्राटवर ! इस शरदऋतुमें मिष्टान्न, तिक्त, कषायरसको सेवन करना चाहिये, तथा नीरनीहार ऋतुमें मीठा नुनखरा आम्लेके रसको सेवन करना चाहिये। वसन्तकालमें तीक्ष्ण, तिक्त कषायरसको सेवन करना चाहिये, तथा ग्रीष्मऋतुके प्रारम्भ होने पर प्रशमरसान्न (मिष्टान्न) को सेवन करना चाहिये आदि लोकोपकारी विषयोंका इसमें बहुत ही योग्य रीतिसे वर्णन किया गया है। इस ग्रंथके अष्टमश्वासमें समस्त आचार जिनपूजाका वर्णन बड़े विस्तारके साथ तथा साहित्यकी लालित्यको दिखाते हुए जिस योग्य सुचारुरीतिसे किया है वह कोई दूसरे ग्रन्थमें नहीं मिलता। यह भी इसके अनन्यलभ्य महत्त्वके द्योतन करनेके लिये उदाहरण होगा अतः पाठकोंके मनोविनोदके लिये स्नानविधिका एक विशेषण दर्शाते हैं।

" ॐ भक्तिभावितनतोरगनरसुरासुरेश्वरशिरःकिरीटकोटिकल्पतरुपल्लवायमानचरणयुगलम्, अमृताशनाङ्गनाकरविकीर्यमाणमन्दारनमेरुपारिजातसंतानकवनप्रसूनस्पन्दमानमकरन्दस्वादोन्मदमिलन्मत्तालिकुलोत्कलोलोत्तालितनिलिम्पालिस्तिंग्यापारगिलसः वरचरङ्गमारहेवास्क्रालितवेणुवल्लकीपणवानकमृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलताल्झल्लरीभेरीभम्भाप्रभृत्यनवधिवनशुषिरततावनद्धवादनादनिवेदितनिखिलविष्टपाधिपोपासनावसरम्, अनेकामरविकिरत्नुत्कीर्णकिशलयाशोकानोकहोल्लसत्प्रसवपरागपुनरुक्तसकलदिक्पालहृदयपरागप्रसरम्, अखिलभुवनेश्वरैलांछनातपत्रत्रयशिखण्डमण्डलमणिमयुखरेखालिख्यमानमखमुखखेचरीभालतलतिलकपत्रम्, अनवरतयक्षविक्षिप्यमाणामयवक्षचामरपरम्परांशुजालप्रक्षालितविनेयजनपनप्रासादचरित्रम्, अशेषप्रकाशितपदार्थातिशायीशारीरप्रभापरिवेषमुषितपरिषत्समास्तारमतितिमिरनिकरम्, अनवधिवस्तुविस्तारारम्भसारकारासारविस्फारितसरस्वतीतरङ्गसङ्गसंतर्पितसमस्तसत्त्वमनोजाकारम्, इमारातिपरिवृढोपशाह्यमानासनावसानलग्नरत्नकरप्रसरपल्लवितविष्टपादपादपापोगम्, अनन्यसामान्यसमवसरणसमासीनमनुजदिविजमुनः

ऐन्द्रवृन्दवन्द्यमानपादारविन्दयुगलं ।

" मङ्गाविलक्ष्मीलतिकावनस्य, प्रवर्धनावर्जितवारिपूरैः ।
जिनं चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भैर्नभः सदो धेनु पयोधराभैः ॥ "

(यशस्तिलकचम्पू ८ वां आश्वासमें)

पाठकवृंद ! इस स्नानविधिके विशेषणसे आप अनुमान कर सकते हैं कि "यशस्तिलकचम्पू" को किस तरहसे अनन्यलभ्य महत्व प्राप्त है ।

यद्यपि यशस्तिलकचम्पूके विषयमें बहुतसे पंडितराजोंकी शुभ सम्मतियां हमको उद्धृत करना चाहियें थीं, परन्तु लेख बढ़नेके भयसे हम एकका ही सिर्फ उल्लेख करेंगे । काशीके प्रसिद्ध पंडित गुलाबझाकी यह सम्मति है–

"यशस्तिलकचम्पूकी सृष्टि मानवी बुद्धि द्वारा नहीं हुई बल्कि किसी अनुपम दैवीय बुद्धिसे हुई है । इत्यादि "

प्रियपाठकवृन्द ! अब हम आपको इस "यशस्तिलकचम्पू"की उत्तमताका सिंहावलोकन कर "जीवन्धरचम्पू" के लिये कुछ कहेंगे ।

वास्तवमें इस "चम्पू" ग्रंथके वैसे तो सबही गद्य और पद्य उल्लेखनीय हैं तथापि भव्य पाठकोंके सन्मुख कुछ इसकी भी उत्तमताके दृष्टांत स्वरूप श्लोक भेंट देंगे किन्तु इसके पहिले हम इस काव्यके नेता "जीवन्धरस्वामी"के चरितके बारेमें कहेंगे । वास्तवमें इनके चरित्रोंपर "गद्यचिंतामणि, जीवन्धर चम्पू, क्षत्रचूड़ामणि, जीवन्धर चरित्र, जीवन्धर पुराणादि काव्य रचे हैं । वास्तवमें इनकी जीवनीका वृत्तांत विशेष कौतूहलवर्द्धक, जनको उन्नत बनानेको आदर्शनेता चरित्रके लिये सर्वोत्तम है । इस ही कारणसे इनकी जीवनीके वृत्तांतसे सज्जित अनेक काव्यरत्न हैं अब हम जीवंधरचम्पूकी बानगी देते हैं–

वक्त्रं चन्द्रप्रभं यद्भुजयुगमजितं यस्य गात्रं सुपार्श्वं
कृत्यं स्वाधीनधर्म्यं हृदि पुरुचरितं शीतलं सुव्रताख्यं ।
राज्यं श्रीवर्धमानं कुलमतिविमलं कीर्तिवृन्दं त्वनन्तं
सोऽयं प्रत्यक्षतीर्थेश इव विजयते विश्वविद्याविनोदः ॥

अर्थात चन्द्रप्रभ, सुपार्श्वनाथ, शीतलनाथ, सुव्रतनाथादि तीर्थंकरोंकी तरह [illegible] प्राप्त होता है । नामके एक देश कथनसे संपूर्णका ज्ञान हो जाता है ।

और भी हम इस चम्पूकी विशेषताका दृष्टांत देंगे [illegible] दास आदि कवि अपने अपने काव्योंमें शृंगाररसकी महत्ता दिखानेके हावभावोंको बड़ी निर्लज्जताके साथ दिखाते हैं किन्तु महाकवि [illegible] रीतिसे अपने चम्पूमें बताते हैं । आशक्त गुणमाला [illegible]

प्रेमी जीवंधरको पत्र लिखती है। तथा विरहाग्नि दुःखसे दुःखित स्वामी जीवंधर उसका क्या उत्तर देते हैं—

मदीयहृदयाभिधं मदनकाण्डकाण्डोद्यतं
नवं कुसुमकन्दुकं वनतटे त्वया चोरितं।
विमोहकलितोत्पलं रुचिररागसत्पल्लवं
तदद्य हि वितीर्यतां विजितकामरूपोज्ज्वलः॥ जी० च० ४

तथा स्वामीजी उसके उत्तरमें पत्रद्वारा यह भेजते हैं,

" मम नयनमराली प्राप्य ते वक्त्रपद्मं
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य हृष्टा।
विहरति रसपूर्णे नाभिकासारमध्ये
यदि भवति वितीर्णा सा त्वया तं ददामि॥ जी० च० ४ छं०

काव्यरसिकमंडल! जरा निरपेक्ष दृष्टिपर पक्षपातका ऐनक न लगाकर कहिये। प्रेमी प्रेमिकाओंके ऐसे सुन्दर पत्र क्या, और किसी कविने अपने नेता उसकी प्रेमिणीके साथ करवाये हैं; इसका सौभाग्य जी० च० के रचयिता श्रीयुत महाकवि हरिश्चन्द्रजीको ही प्राप्त हुआ है।

पाठकों! "जीवन्धरचम्पू" उत्तमतामें प्रायः सम्पूर्ण उल्लेखनीय है। अतः और हमको उल्लेख करना चाहिये था किन्तु मंजलतक पहुंचनेमें मार्ग अभी विशेष तय करना है; अतः हम चम्पूको छोड़कर श्रव्यकाव्यके प्रधान भेद "महाकाव्य" में उत्तमता दिखाते हैं।

पाठकवृन्द! जिस तरह वैष्णव महाकाव्यपुंज आजकल आप लोगोंकी निगाहमें आते हैं उसी तरहसे जैनमहाकाव्य पुंज भी उससे किसी हालतमें भी कम नहीं है। यद्यपि मैंने लेखके पूर्व भागमें इस बातको दिखला दिया है कि बौद्ध तथा शंकराचार्य, महमूदगजनवी, औरंगजेब आदिके जमानेमें जैन ग्रन्थराशोंके साथ २ जैनकाव्योंका भी प्रक्षय हुआ था फिर भी इस प्रक्षय युगसे बृहदवशिष्ट काव्य भाग भारतमें उपस्थित हैं।

आप लोगोंको जो काव्य दृष्टिगोचर होते हैं वह प्रायः सम्पूर्ण निर्णयसागरके छपे हुए ही होंगे, क्योंकि जैनसमाज अपने धनके सामने ऐसे रत्नोंको थोड़ा ही कुछ मूल्यवान् समझती है? नहीं तो भारतादि देशोंमें रक्खे हुए अपने काव्यरत्नोंको प्रकाशित न करती? देखिये जितने भी जैन काव्य "निर्णयसागर"से प्रकाशित हुए हैं, वह सब जयपुरकी सरकारी लाइब्रेरीसे प्राप्त हुए हैं। यह लायब्रेरी प्राईवेट तथा अन्दर है। इस लाइब्रेरीमें जैन काव्योंकी उपस्थिति बहुत है, उसमेंसे बहुत थोड़े प्रकाशित हुए हैं किन्तु वैष्णव काव्य

निर्णयसागरमें बहुलतासे पाये जाते हैं इसलिये अपनी दृष्टिमें बहुत कम आते हैं, किन्तु यदि आप प्रकाशित तथा अप्रकाशित दोनोंको मिलाकर वैष्णव काव्योंसे तुलना करेंगे तो जैन काव्योंकी गणना किसी प्रकारसे भी कम नहीं हो सकती ।

जैन महाकाव्य समुद्रके अन्दर जो विचित्र रत्न स्वरूप एकाक्षर वा द्वयाक्षरके श्लोक उपस्थित हैं, पाठकोंको हम उन्होंका सिंहावलोकन कराते हैं ।

रौरोरा रैररैरेरी रोरो रोरुररेररिः ।
रुरुरूरुरूरुरूरुरोरारारीरैरुरोररम् ॥ (म० चन्द्रप्रभ १९ सर्ग)

अर्थ—चिल्लाते हुए शत्रुके त्यागशील कुबेरको, तिरस्कृत करनेवाले शत्रुको, चक्रोंके आक्षेपसे प्राप्त कर लिया (अथवा चक्राक्षेपोंके द्वारा शत्रुका शत्रु स्वयं आगया ।)

" ककाकुकङ्ककेकांककोकिकोकैककुःककः ।
ककुकोकःकाककाककक्काकुकुककाङ्कुः ॥ (महा० नेमिनिर्वाण)

अर्थात् देखिये विचित्र एकाक्षरसे समुद्रका कैसा सुन्दर वर्णन किया है ।

कंकः किं कोककेकाकी किं काकः केकिकोऽककं ।
कौकः कुकैककः कैकः कः केकाकाकुकांककं ॥ (महा० धर्मशर्माभ्युदय)

अर्थ—चकवाक हंसके समान गमन करनेवाला बगुलाके आकार तथा मयूरके समान स्वरूप धारण करनेवाले कौएके आकार, स्वर्ग, पृथ्वी जलमें अद्वितीय होकर कुटिलतासे मयूरके समान शरीरको समान बनाकर कुटिलतासे युद्ध करता भया ।

" गंगोरगगुरुग्रांग गौरगोगुरुरुग्रगुः ।
रागागारिगिरंगैरग्रेऽगं गुरुगीरगात् " ॥ (धर्मशर्माभ्युदय)

अर्थ—गंगा, शेषनाग तथा हिमालयके समान गौर वाणीवाले बृहस्पति तथा प्रखर है प्रकाश जिनका ऐसे बृहस्पतिके समान गानसे महानादके कारण विषके समान महानाद होता भया । (अर्थात् जिस प्रकार शरीरको विष दुख देता है इस प्रकार कर्णोंके लिये कटुक नाद)

रैरोऽरिरीरुरुरारा रोरुरारारिरैरिरत् ।
रुरुरोरुरुरारारुरुरुरुरेररुरः ॥ (महाकाव्य द्विसंधान)

अर्थ—धन देनेवाले, और शत्रुओंके समूहको अच्छी तरहसे नष्ट करनेवाले, शब्द करनेवाले प्रतिविष्णु (श्री बलभद्र) बड़े २ आरोंको शत्रुओंके प्रति प्रेरित करते भये और शत्रुओंके हृदयको घायल करते भये ।

यहां रामायण पक्षमें (द्वितीयार्थ) धन देनेवाले, शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेवाले,

शब्द करनेवाले प्रतिविष्णु लक्ष्मणजी बड़े २ आरोंको शत्रुओं (रावण पक्षवालों) के प्रति प्रेरित करते भये और शत्रुओंके हृदयोंको घायल करते भये ।

वीरारिवैरवारी वै वव्रे रविरिवोर्वरास्‌ ।
विवोवरैराविविरैरवोवावा विराववान्‌ ॥ (म० द्विसंधान)

अर्थ–वीर शत्रुओंके वैरको नष्ट करनेवाले अपराधियोंके अंधकारको भगानेवाले गम्भीर ध्वनिवाले सूर्यके समान कृष्णजीने अच्छी तरह धान्यसे पूर्ण पृथ्वीको अपने प्रखर तेज मंडलसे आच्छादित कर दिया ।

द्वितीय अर्थ–वीरशत्रुओंके वैरको नष्ट करनेवाले अपराधियोंके अंधकारको भगानेवाले, गंभीरध्वनिवाले केशवके समान रामचन्द्रजीने अच्छी तरह धान्यसे पूर्ण पृथ्वीको अपने प्रखर तेजोमंडलसे आच्छादित कर दिया ।

ऐसे विचित्र एकाक्षर व्यंजन, द्वयाक्षर व्यंजनके अनेक श्लोक हैं । इस बातका हम लोगोंको विशेष गौरव मानना चाहिये । प्रिय पाठकवृंद ! जैनेतर कवियोंने मुख्यतया अष्ट रस माने हैं तथा पीछेसे यह भी कह देते हैं कि " शान्तोऽपि नवमो रसः " किन्तु पूज्य जैनाचार्योंने शान्तरसको खूब अपनाया है । वास्तवमें यह ही योग्य तथा न्यायानुकूल भी है । क्योंकि विना रसके काव्य ऐसा है जैसे अच्छे भोजनोंमें निमकका नहीं होना.

साधुपाकेऽप्यनास्वाद्यं, भोज्यं निर्लवणं यथा ।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥ (वाग्भट्टालंकार)

तथा वाग्भट्टालंकारमें रसोंको कहा है ।

शृंगारवीर करुणाद्भुत हास्य भयानकाः ।
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च, नवैते निश्चितावुधैः ॥ (वा० अ०)

अर्थात्–शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, भयानक, रौद्र, वीभत्स, शान्त ये नव रस बुद्धिमानों द्वारा निश्चित हैं ।

सब महाकाव्योंमें इस शांतिरसको प्रायः उच्च स्थान ही दिया है । अब हम "चंद्रप्रभमहाकाव्य"के लिये कहेंगे । यह उत्तम काव्य श्रीयुत वीरनन्दिने बनाया है इसका तथा कालिदास द्वारा विचित रघुवंश महाकाव्यका हम मिलान करते हैं ।

रघुवंशके दूसरे सर्गका श्लोक तथा चन्द्रप्रभके चतुर्थ सर्गका प्रथम श्लोक देते हैं

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्यां ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनु ऋषेर्मुमोच ॥

(रघुवंश

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्ग।
वृद्धिं स पद्माकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः॥

प्रिय पाठकवृंद। देखिये वीरनन्दि, कालिदासकी काव्यरचनाके विषयमें शैलीकी उत्तमता यहीं देखिये। कालिदासकी कल्पना शक्ति, बुद्धि पाटव, आलंकारिक रचना देखकर वीरनंदिके शिष्यकी तरह मालूम होते हैं। तथा चंद्रप्रभके प्रथम सर्गमें देशवर्णन ऐसी उत्तमतासे लिखा गया है कि, रघुवंशमें तो क्या? बल्कि कालिदासके दूसरे काव्योंमें भी पाना असंभव है। उदाहरणके लिये हम कुछ श्लोक देते हैं—

मदेन योगो द्विरदेषु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता।
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुचेषु यस्मिन्करपीडनानि च॥

अर्थात् उस नगर (रत्नसंचयपुर) में हस्तिओं ही में मद केवल था, तथा धातुओंमें ही उपसर्ग पाये जाते थे तथा निपातनक्रिया शब्दोंमें ही पाई जाती थी, करपीड़ा (हस्त-पीडा) कुचोंमें ही पाई जाती थी। अर्थात् उस रत्नसंचयपुरमें हस्तिओंमें ही केवल मद था किन्तु मद=घमंड=लोकमें नहीं था तथा धातुओंमें ही उपसर्ग पाया-जाता था। किन्तु उस नगरमें उपसर्ग, उपद्रव नहीं पाये जाते थे। शब्दोंमें ही निपातनक्रिया थी किन्तु उस नगरमें निपातन मारण नहीं था, तथा कुचोंमें ही करपीडा हस्तपीडा थी, किन्तु उस देशमें करपीडा=राजकरबाध=नहीं थी।

ऐसे ही बहुत अच्छे २ श्लोकोंमें देशवर्णन, राजाका वृत्तांत दिया है। द्वितीय सर्गमें उद्यानका कैसा अच्छा वर्णन किया है तथा इसमें न्यायका वृहद्दंश दिया है जो कि विशेष गम्भीर तथा सरल श्लोकोंसे सुसज्जित है। चन्द्रप्रभकाव्यमें राजनीतिका कैसा उत्तम वर्णन किया है जिसको देखकर बहुत आश्चर्य होता है। पाठकोंके लिये हम देते हैं।

वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभावा मोढीविजस्त्वं जनमात्मनीनं।
जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति॥
समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य।
वश्ये स्वकीये परिवार एव, तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः॥
विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं, कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकं॥
धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः॥
वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहतप्रमादः।

विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्र ॥
निगृह्णतो बाधकरान् प्रजानां भृत्यांस्ततोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम् ।
कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि, व्याप्नोतु बन्दिस्तुतकीर्तनस्य ॥
कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि ।
गूढात्ममंत्रः परमंत्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥

(चंद्रप्रभ ४ सर्ग ३६—४२)

अर्थ—हे पुत्र उत्कृष्ट प्रभाववाली विभूतियोंको चाहते हो तो अपने जनों (प्रजा)को कभी दुःखित मत करो, क्योंकि नीतिज्ञ कहते हैं कि उन सम्पत्तिओंके आनेका प्रथम कारण जनोंका अनुराग ही है।

(प्रजानुरंजन शासन शासन है, नहीं तो सब निश्कासन हैं)

[तथा सम्पत्तिओंका समागम निर्व्यसन राजाके होता हैं]

निर्व्यसन नरेशके सम्पत्तिओंका आगमन होता है, तथा राजाका निर्व्यसनत्व, अपने परिवारके वश करनेपर ही होता है, अपने परिवारके वशमें न करनेसे व्यसन (दुःख गरीय (अतिशय बड़ा) होता है। अपने परिवारके वशमें रखनेकी इच्छा रखनेवाला राजा कृतज्ञताके पारको प्राप्त होवे। क्योंकि दूसरे १ गुणोंसे सहित होने पर भी कृतघ्न (किये हुए ऐशानको न मानने वाला समस्त लोकको दुःखित करता है।

कलिकालके दोषोंसे रहित हे राजपुत्र ! तुम धर्माविरुद्ध धन, कामकी वृद्धिको प्राप्त करो क्योंकि युक्तिसे धर्म, अर्थ, कामको सेवन करनेवाला नरेश इस लोक, परलोक दोनोंको सिद्ध करता है। अपने प्रमादको नष्ट कर अपने तमाम कार्य वृद्धोंकी अनुमतिसे सदैव करो क्योंकि वृहस्पतिसे विनीयमान (कहा हुवा) इन्द्र, सुरेन्द्र, लीलाको प्राप्त होता है, अथवा वृद्धसे विनीयमान राजा इन्द्रलीलाको प्राप्त होता है। प्रजाको बाधा करनेवाले ऐसे राज्यके नौकरोंको निग्रह, और प्रजाकी उन्नति करनेवाले ऐसे राज्य नौकरोंका अनुग्रह करनेसे बन्दिजनोंसे स्तुति होनेवाले ऐसे राजाकी (तुम्हारी) कीर्ति सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त होवेगी। (इस श्लोकके अनुसार वर्तमान नौकरशाही जो कि प्रजाको बाधा कर रही है, उसके लिये निग्रह स्वरूप असहयोग जिसका प्राण अहिंसा है करना जैन समाजका धर्म, कर्तव्य एवं च शुभनीति प्रतीत होती है।

हमेशा अपनी चित्तवृत्तिको प्रकाशित मत करो, जिससे कि तुम्हारे विचार केवल कार्यके फलसे अनुमान किये जांय; क्योंकि गूढ़ विचारवाला पुरुष जो है सो दूसरेके विचारको जान सकता है किन्तु दूसरे लोग उसकी मंत्रणाओंको नहीं जान सकते।

प्रिय पाठक वर्ग विचारिये कितनी बढ़ी चढ़ी हुई उच्चकोटिकी राजनीति है, यदि

यह राजनीति काममें लाई जाय तो आज भारतवर्षकी यह दशा नहीं होती। प्रिय पाठकवृंद, मैं अब "धर्मशर्माभ्युदय"की उत्तमता दिखाता हूं। इस महाकाव्यके रचयिता श्रीयुत कवि हरिचन्द्रकी प्रशंसा बहुतसे प्राचीन विद्वानोंने की है; उसमेंसे हम "कादम्बरी"के रचियता श्रीयुत बाणकवि "हर्षचरित"में कहेगये पद्यको दिखाते हैं।

पदबन्धोज्ज्वलो हारी, कृतवर्णक्रमस्थिति।
भट्टारहरिश्चन्द्रस्य, गद्यबन्धो नृपायते॥ (हर्षचरित)

प्रिय पाठकवृन्द! प्रसिद्ध बाणकवि भी कहता है कि पदबन्धोंसे उज्वल, हारी, ऐसी भट्टारहरिश्चन्द्रकी गद्यबन्ध नृपकी तरह आचरण करती है। उन्हीं श्रीयुत कविराज हरिश्चन्द्रकृत यह एक मनोहर पद्यकाव्य है।

इसकी हम क्या प्रशंसा करें इसके प्रथम सर्गमें सज्जनदुर्जन वर्णन बहुत चारुरीतिसे किया जाता है। उदाहरणार्थ हम दो पद्य उद्धृत करते हैं।

गुणानधस्तान्नयतोऽप्यसाधुपद्मस्य यावाद्दिनमस्तु लक्ष्मीः।
दिनावसाने तु भवेद्गतश्री राज्ञः सभासंनिधिमुद्रितास्यः॥ धर्मशर्मा०
उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति।
स्वर्णाद्रिश्रृँगाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव॥ ध.अ.

प्रिय पाठक वृंद! ऊपरके श्लोकमें श्लेषगर्भित स्वभावोक्तिको दुर्जनके लिये कैसा दिखलाया है सो विचारिये। तथा दूसरेमें दुर्जनके लिये कैसा अर्थांतर दिखलाया है।

तथा इसी तरह इस ही पहिले सर्गमें जम्बूद्वीप, सुवर्णगिरि तथा रत्नपुर नामके ग्रामका वर्णन पदलालित्य, अलंकार, रस, उपमा, उपमेय आदिसे अधिकतम सुन्दर बना दिया है। जो कि नैषध माघमें नहीं पाया जा सकता। तथा पांचवें सर्गमें स्वर्गसे उतरती हुई देवाँगनाका अत्यंत मनोहर ऐसा वर्णन किया है जो कि नैषध, माघमें उन देवांगनाओंका ऐसा वर्णन ही नहीं मिलता तथा सुन्दरके साथ २ वृहद्विस्तयके साथ किया है; जिसको कि बहुतसे महाकाव्यों सिर्फ ३–४ श्लोकोंसे किया होगा। तथा इसी तरह इस महाकाव्यके कुल दसवें सर्गमें विन्ध्याचल पर्वतका कैसा उत्कृष्ट उत्तम वर्णन किया है जो कि किसी काव्यके अन्दर नहीं पाया जाता है; तथा ११ वें सर्गमें ऋतुओंका वर्णन विशेष उल्लेखनीय है किन्तु हम उसका दृष्टांत स्वरूप देनेमें बिलकुल असमर्थ हैं; क्योंकि अभी बहुत दूर पड़ाव है;

अब हम हर्षकवि, श्रीयुत हरिचंद्र कविजीकी काव्यरचनाका मिलानकर "महाकाव्य" के भागको खतम करेंगे।

श्रीयुत हर्षकवि राजा नलकी विद्याके वर्णनमें कहते हैं—

"अधीतिबोधचरणप्रचारणै, दशाः चतुस्रः प्रणेयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्त्वं कृतवान् कुतः स्वयं, न वेद्मि विद्या सुचतुर्दश स्वयं ॥

अर्थ—महाराजा नल अधीति, ज्ञान, आचार, प्रचार से विद्याओंमें ४ पनेंको करते तथा उन्होंने स्वयं १४ विद्याओंको प्राप्त कर लिया । मैं नहीं जानता कि राजा नलने १४ विद्याओंको कैसे प्राप्त किया ।

तथा कविवर हरिचन्द्रजी राजाकी विद्याका वर्णन करते हैं ।

ततः श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनो, विशंकमानेव पराभवं तदा ।
विशेषपाठाय विधृत्य पुस्तकं करान्न मुञ्चत्यधुनापि भारती (धर्म०)

अर्थ—श्रुतसागरके पारको प्राप्त ऐसे इस राजासे पराभव(हार)की आशंकासे ही मानों विशेष अध्ययनके लिये सरस्वती अपने हाथसे आज भी पुस्तकको नहीं छोड़ती है। विचारिये पाठक उभयकाव्योंकी उत्तमता । अब हम और भी इस विषयमें मिलान करते हैं ।—

हरिचन्द्र कवि राज्ञीके वर्णनमें कहते हैं:—

कृतौ न चेत्तेन विरंचिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृशः पयोधरौ ।
तदङ्गलग्नोऽपि तदा निगद्यतां स्मरः परासु कथमाशु जीवितः ॥

अर्थ—उस सुव्रताके दो स्तन यदि ब्रह्माने अमृतके कोष नहीं बनाये । तो फिर कहिये उसके शरीरमें लगा हुआ मृत कामदेव किस तरह जीवित हो गया । तथा हर्ष कवि कहते हैं:—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोऽगमिते कान्तिझरैरगाधितां ।
स्मरयौवनयो खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावभौ ॥

अर्थ—कांतिरूपी झरनासे अगाधित दमयन्तीके शरीरमें विद्यमान कामदेव यौवनके लिये उसके कुचयुग तैरनेके लिये दो घड़ोके समान होते भये ।

कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोक्यतामस्य तथा हि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणं ॥

अर्थ—चंचल हैं चक्षु जिसके ऐसी राज्ञीमें ऐसे कपोलोंके कारणसे ब्रह्माने चन्द्रमाकी द्विधा विभक्त कर दिया । अतएव कलंकके छलसे सिलाईका निशान दीख पड़ता है ।

तथा हर्षकवि कहते हैं—

'हृतसारमिवेन्दुमंडलं, दमयन्ती वदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते, धृतगम्भीरखनीखनीलिम्' ॥

अर्थ—ब्रह्माने निश्चय करके दमयन्तीके मुखके बनानेके लिये चन्द्रमाका सब

सार खीच लिया अतएव सार खीचनेसे श्याम हुए चन्द्रमामें पुतीहुई सफेदी के छुटजानेसे बीचमें कालिमा दिखाई पड़ती है।

पाठकवृंन्द देखिये कवि हरिचन्द्रजीकी कवितामें कितना रससौन्द्रर्य है।

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः।
लिलेख वक्त्रे तिलकांकमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मंगलाक्षरं ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें कविने स्वीकृति वाचक ॐ शब्दको किस अद्वतीयरूपसे दिखाया है।

इन्ही कवि हरिश्चंद्रजीकी एक उत्तम कल्पना दिखाते हैं।—

उदीरिते श्रीरतिकीर्तिकान्तिभिः श्याम एतामिति मौनवान्विधिः।
लिलेख तस्यां तिलकांकमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति संगतोत्तरं ॥

अर्थ—श्री, रति, कीर्ति, कांति इन्होंने जिस समय ब्रह्माजीसे प्रार्थना की उसी समय मौनी ब्रह्माने तिलका चन्हित भों इसके बहानेसे ॐ (अर्थात मैं स्वीकार करता हूं) ऐसा समुचित उत्तर लिखा दिया। इसी तरह इनकी प्रत्येक कवितामें नवीन२ सुन्दर कल्पना भरी हुई हैं।

प्रियपाठकवृंद! इसी तरहसे महा० द्विसंधान जिसमें कि एक साथ महाभारत, रामायण दोनोंका एक साथ ही श्लोकोंसे अर्थ लगता चलता है। उदाहरणार्थ हम इसका भी उल्लेख अवश्य करेंगे।

केवरपार्थामधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती।
तनोति सालंकृति लक्ष्मणान्विता सतां मुदं दशरथे यथा ननु ॥
१ सर्ग

प्रियपाठकवृंद! इस काव्यके उपर्युक्त श्लोकसे आप अनुमान करसकते हैं। तथा इस काव्यके अन्दर विशुद्ध, तथा उच्चकोटिके राजनीतिका वृत्तांत आया है। जो कि ऐसे नाजुक ज़मानेमें उसका कथन भारतके लिये अच्छा होता। प्रियपाठकवृंद द्विसंधानकी तरह चतुःसंधान, चतुर्विंशति संधान उपस्थित हैं जो कि कवि जगन्नाथने बनाये हैं,इनमें से चतुःसंधानके हरएक श्लोकका अर्थ चार चार कथाओंके अनुसार चार ४ अर्थवाला होता है तथैव दूसरे चतुर्विंशति संधानके हरएक श्लोकका अर्थ २४ कथाओं (२४ तीर्थकर) के अनुसार चौवीस २४ होते हैं। और इसीतरह "सप्तसंधान" के भी सात२ अर्थ लगते हैं। यह महत्त्व जैनेतरोंको नहीं मिलता लेकिन लेख विस्तर होजानेके कारण हम इस विषयको न कहकर अब खंडकाव्योंकी मनोहर वाटिकामें आप लोगोंको लिये चलता हूं "पार्श्वाभ्युदय" काव्य जो कि श्रीयुत जिनसेनाचार्यने कालिदासके "मेघदूत"

पर रचा था। मेघदूत शृंगारमय है किन्तु अजितसेनजीने उस मेघदूतका एक १ या दो २ चरण लेकर शृंगाररससे बिल्कुल वैराग्यरसमें परिणतकर वास्तवमें ताँबाको सोना बना दिया है। इस ग्रंथका सिर्फ एक श्लोक दिखाते हैं कि यक्ष नगरीमें मद्य पीनेका विधायक था। उसका कैसे ढँगसे निषेध किया है।

लोलापाङ्गा सुरसरसिकाः प्रोन्नतभ्रूविकाराः।
प्राणेशानां रहसि मदनाचार्यकं कर्त्तुमीशाः।
स्वाधीनेऽर्थे विफलमिति वा वा मनेना च यस्या।
मासेऽन्ते मधुरतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं॥ (पार्श्वाभ्युदय)

प्रियपाठकवृंद इसी तरह इस काव्यमें उत्तम १ श्लोकोंमें वैराग्यशिक्षा भरदी है।

तथा रत्नसिंह कविने अपने "प्राणप्रिय काव्य" भक्तामरका चतुर्थ पादलेकर समस्यापूर्तिकी कैसी खूबी दिखाई है वह यह एक उदाहरणसे आप लोगोंके समझमें आजायगी।

एतन्मदीरित वचः कुरुनाथ नो चेत्।
रोत्स्यत्ययं नरपतिः स्वयमुग्रसेनः।
कुर्वन्तमुत्तमतपोऽपि भवन्तमेषः।
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थं॥

और भी जैन संसारमें बहुतसे खंडकाव्य हैं। जिनमेंसे उल्लेखनीय "जिनशतक" है जिसको कि स्वामी समन्तभद्रजीने बनाया है। आदिसे अन्ततक चित्रमय कविता है जिसके पद्य "अलंकारचिन्तामणी" में चित्रालंकार प्रकरणमें उद्धृत किये हैं, उसको और हम बताते हैं। हम उसके सिर्फ ३ या ४ पद्य उद्धृत करते हैं। प्रासादगुण विशिष्ट द्वयक्षर श्लोक शायद ही किसी जैनेतर काव्यमें पाया जाता हो। हम आपको वही दिखलाते हैं।

मानोनानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम्।
मनूनामनुनौमीमं नेमिनामानमानमन्॥

और भी प्रासादगुणविशिष्ट गत प्रत्यागत (सीधे वाचो तो वही और श्लोक उल्टे वाचने पर भी वही) देते हैं।

"नतपाल महाराज गीत्या नुतममाक्षर।
रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन॥

ऐसे श्लोक बनानेमें अर्थक्लिष्ट दोष नहीं छूटता मगर यह दोनों श्लोक इतने प्रासादके हैं कि देखते ही अर्थ मालूम पड़ जाता है।

और भी १ श्लोक यह है कि जो सब चित्रों की खानि है ।—

"पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानामममनामावारक्ष मर्द्दमक्षर ॥

इसका द्वितीयपाद मध्ययमक है । और अताक्ष भी व्यंजन है । और अवर्ण ही स्वर है । गूढ़ द्वितीय पाद है (अर्थात् द्वितीय पादके अक्षर तीनों चरणोंके अन्दर पाया जाता है) और गत प्रत्यागत (अर्थात् प्रत्येक चरणको उल्टा सीधा बाँचे जाने पर कोई भी परिवर्तन नहीं होता) और अर्थभ्रम है । अर्थात् प्रत्येक चरणका पहिला अक्षर और अंतका अक्षर मिलानेसे पहिला पाद बन जाता है ऐसा ही प्रत्येक पादका द्वितीय २ अक्षर, उपान्त्य जोड़नेसे द्वितीय पाद बन जाता है । ऐसा ही तृतीय और चतुर्थ चरण समझना और इसमें सर्वतोभद्र है । इसका चित्र नीचे दिया जाता है ।

(सर्वतो भद्रबंध)

पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
र	क्ष	म	र्द्द	र्द्द	म	क्ष	र
र	क्ष	म	र्द्द	र्द्द	म	क्ष	र
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा

इसी चित्र प्रकरणमें अलंकार चिंतामणि चक्रकी स्वनामगर्भित एक चक्रचित्र भी दर्शाते हैं इसमें " अजितसेनकृत अलंकारचिंतामणि भरतयशसि" यह किस चातुर्यसे निकलता है यह इस चित्रमें दिखलाया गया है ।

(यह चक्र चित्र न छप सकनेसे नहीं दिया गया है) इस चक्र चित्रका श्लोक इस प्रकार है—

अन्याकृत्यमलोवरो भवयमः कुर्वन्मतिं तापसे ।
तत्वा चित्यमतीशिता तबशितः स्तुत्योरुवाणि पुनः ॥
जिष्णूतस्फुटकीर्तिवारवशमः श्रेयोऽभिधे मण्डने ।
धीर स्थापय मां पुरो गुरुवर त्वं वर्धमानो रुधी ॥

खंड़काव्यमें क्षत्रचूड़ामणि नामक ग्रंथ है इसमें जो महत्त्व है यह किसी कविको नहीं मिला है । इसमें अर्द्धश्लोक मय जीवंधर अनुपम विचित्र चरित्र और अर्द्धश्लोकोंमें नीति है । वास्तवमें ऐसा नीतिशास्त्रका काव्य शायद ही संस्कृत काव्योंमें हो जब कि हम इसका स्वाध्याय करते हैं, तो यह मिलता है जिसको कि प्रातःकाल पढ़ना चाहिये ।

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरं ।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ।

अब हम आपको कालिदासके रघुवंशकी तथा क्षत्रचूड़ामणिकी नीतिका मिलान कराते हैं ।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पितः पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः ॥
रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षितां ।
तत्सिषेव नियोगेन, स विकल्प पराङ्मुखः ।
स वेलावप्रवलयां, परिखीकृत सागरं ।
अनन्यशासनमुर्वी, शशासैक महीमिव ॥ (रघुवंशे)
सुखदुःख प्रजाधीने, तदाभूतां प्रजापते ।
प्रजानां जन्मवर्जं हि, सर्वत्रपितरो नृपाः ॥
रात्रिंदिवाविभागेषु नियतो नियतिं व्यधात् ।
कालातिपातमात्रेण, कर्तव्यं हि विनश्यति ॥
प्रबुद्धेऽस्मिन् भुवं कृत्स्नां रक्षयत्येव पुरीमिव ।
राजन्वती भूरासीदन्वर्थं, रत्नसूरपि । (क्षत्रचूड़ामणि)

मिलानकर देखिये कितना रस, लालित्य, सरलता क्षत्रचूड़ामणिमें टपकती है, "गद्यकाव्य" भी एक, काव्यका भाग है यद्यपि हृद्य हृद्य गद्यके दृष्टांतको पूर्वमें दे चुके हैं फिर भी "गद्यचिंतामणि" कादम्बरीसे पदलालित्य, सरसतामें उत्तम है । कादम्बरीमें वृथा ही असिद्ध शब्दोंको देकर, कठिनता बढ़ा दी है । हम ही इसबातको नहीं कहते । बल्कि एक निरपेक्ष प्रोफेसरका भी ऐसा ही मत है। हम उसके वाक्योंको नीचे उद्धृत करते हैं—

" जैसे भारतके वनमें उन सघन वृक्षोंके नीचेमें पैदा हुई छोटी २ झाडियोंके मोर रास्ता गमन करनेमें असाध्य हो जाता है। और किसी तरह मार्ग निकाल भी लिया जाय तो दुष्ट भयंकर जन्तुओंसे पिंड छुटाना पड़ता है। उसी प्रकार बाण कविकी गद्यमें अप्रसिद्ध शब्दोंके मारे कथोपयोगी समझना कठिन पड़जाता है। और कठिन शब्दोंके समझनेके लिये वृथा ही कष्ट उठाना पड़ता है "।

वास्तवमें यह बात बाण कविके लिये बिलकुल ठीक प्रतीत होती है, हम लोगोंको बड़ा भारी गौरव समझना चाहिये कि हमारे यहाँपर क ख ग आदि १२ अक्षरोंका क्रमसे ऐसा श्लोक भी हैं।

ऐसे श्लोक अन्य काव्योंमें नहीं देखे जाते हैं। यह महत्त्व जैन काव्योंमें ही प्रायः मिलता है।

प्रिय पाठक महाशय ! हमारी इस काव्योंकी महत्ताको स्वयं हम ही नहीं कहते बल्कि विजातीय भी कहते हैं "निर्णयसागरमें जितने काव्य निकलते हैं वह सब प्रसिद्ध काशीनाथ पांडुरंग द्वारा संशोधित किये निकलते हैं। इन्होंने कईवार एक प्रसिद्ध जैन कार्यकर्तासे कहा था कि " जैन काव्योंके सामने वैष्णयकाव्य निष्प्रभ मालूम पड़ते हैं। " यद्यपि पश्चिमीय निरपेक्ष विद्वानोंकी इस मत पर बहुतसी सम्मतियां हैं किन्तु मैं उन सबको यहां कहना नहीं चाहता किंतु कितनी ही भाषाओंका वेत्ता, जगत्सिद्धान्तोंका अनुशीलन करनेवाला प्रसिद्ध डाक्टर हर्टलका कहना है–

" Now what would sanskrit poetry be without this large Sanskrit Literature of Jains. The more I learn to know it, the more my admiration rices.

अर्थात्–यदि जैनोंका महान् संस्कृत साहित्य अलग कर दिया जाय तो संस्कृत कविताकी क्या दशा होगी। जितना कि मैं जाननेके लिये पढ़ता हूँ उतना ही अधिक आश्चर्य होता है।

यद्यपि जैन काव्य भारतीय समस्त प्राचीन भाषाओंके अन्दर पाया जाता है किन्तु हम भारतकी होनेवाली राष्ट्रीय भाषा हिन्दी काव्यके महत्त्वका दिग्दर्शन कराएंगे। क्योंकि भारतको स्वाधीनता दिलानेवाले "असहयोग"का मूल प्राण अहिंसाका बारीकतासे इसी काव्यकुंजमें निर्देश पाया जाता है।

नानानन्तनुतान्त तान्तितनिनुन्नुन्नान्त नुन्नानृत।
नूतीनेन नितान्ततानितनुते नेतोन्नतानां ततः।
नुन्नातीतिनुन्नातिं नितनुतान्नीतिं निनूतातनु–
न्नान्तानीतिततान्नुतानन नतान्नो नूतनैनोन्तु नो। (जिनशतके)

माननीय विचारशील सुहृत्तमं पाठकवृंद ! जिस समय हम बहुविस्तृत हिन्दी जैन काव्यसागरकी तरफ दृष्टिपात करते हैं तो हमारी दृष्टि वहांसे हटती नहीं है। और वहां पर चंचल मनको भी अपने स्वभावको बाध्य होकर बदलना पड़ता है। और वह अपने द्वारपाल चक्षुयुगलको वहांपर खड़ाकर आप इस विस्तीर्णसागरमें मनोनीत माणिक्य-पुंजकी प्रबल ग्रहणेच्छासे प्रवेश होता है। धैर्य विभूषित सज्जनवृंद ! आप शांतचित्त होकर थोड़े समयके लिये आप भी इस अनंतसागरके तट पर एकाग्रचित्त हो बैठिये। थोड़े ही समयमें यह सेवक हिन्दी जैनकाव्योत्तमरत्नपुंज भेंटमें संमानित कर आपसे विदा लेगा।

प्रथम जिससमय हम जैन हिन्दीपुराण काव्य, आदिपुराण, महापुराण, हरिवंश-पुराण, पाँडवपुराण, पुण्यास्रव, यशोधरचरित पुराण, आदि जैन पुराण काव्यनिकुंजमें घुसते हैं तो शब्दार्थालंकारोंकी शोभासे पूर्ण, एवं च नूतन नामागुणोंकी सुगन्धित माला-ओंसे सजे हुए एक ऐसे निकुँजमें पहुँचते हैं—जहां पर धर्म, शान्तिका वायुमण्डल प्रतिस-मय हमारे त्रस्त, चंचलहृदयको,अनुपमशान्त बैराग्यमें स्थित बनाता है। इस पवित्र निकुँ-जमें अधर्म, हिंसादुर्गन्धयुक्त वायुका प्रवेश अन्य परिकल्पित लिंग पुराणादिककी तरह कहीं भी किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र द्वारा नहीं हो पाता, क्योंकि इन पुराणनिकुँजोंकी चारों दीवालें अहिंसारूपी ईंटों तथा शान्तिके गिलाओंसे बहुत मज़बूतीके साथ बनी हैं। जिस-तरहसे अन्यपुराणोंमें कपोलकल्पित, नितान्तासंभव, भ्रमोत्पादक तथा हिंसा घ्रणा क्रूरतादि विषयोंकी, अत्याधिक्य मर्यादाके उलंघन करनेवाला वर्णन पाया जाता है। जैसे कि ब्रह्माजी की उत्पत्ति पद्मसे हुई है (१) सीता की उत्पत्ति विना माता पिताके हुई है (२) तथा एक गौमें ३३ कोटि देवता बास करते हैं इत्यादि असंख्य मिथ्या तथा विशेषबासनाओंके जालमें फँसानेवाली कथाओंका वर्णन जैसे वैष्णव पुराणोंमें पाया जाता है तैसा वर्णन भव्य, सभ्य, काव्यनिकुंजवृंदमेंसे किसी भी काव्यके सूक्ष्मतमांशमें भी अनुसंधानकारियोंके दृष्टिपथ नहीं होता। प्रायः इन वैष्णव पुराणोंकी ऐसी निर्मूल, अत्यंतासंभव हिंसासे आढ्यः (प्रचुर) देखकर ही हमारे यूरोपीयलोग मनगढंत, मिथ्या, भ्रमोत्पादक, मक्कारके वर्णनके लिये उपमाका काम लेते हैं। "अस्तु"। हम दृष्टांतस्वरूपमें इनके (जैन पुराणोंके) हृद्यगद्य इस लेखमें लिखकर इस लेखका वृह-दाकार न करेंगे। किंतु दिलमें सदैव चुभनेवाले (हर्षोत्पादक) यशस्तिलकचरित पुराणके बारेमें अवश्य लिखेंगे। इस पवित्र पुराणको पढ़नेसे राक्षसी प्रकृतिवाले मनुष्यके भी हिंसासे घृणा होकर पवित्र अहिंसामय जीवनका संगठन होगा। तथा इस पुराणमें कविने किस सौन्दर्य अनुपम अहितासे वर्णन किया है कि पाठक महोदयोंके रोमांच खड़े होजाते हैं

इस बातको हमारे वन्दनीय स्वाध्यायिवर्ग तथा भाष के विद्वान स्वाध्याय कर अपने हृदक्षेत्रोंमें विश्वसितको वो सकेंगे। मैं अब पुण्याश्रवादि उत्तमोत्तम जैनकाव्योंकी उत्तमता बतलानेके लिये समय नहीं रखता। फिर भी काव्योत्तम पार्श्वपुराणादिकोंके कुछ चुने हुए कुसुमोंसे आप सज्जनोंपर वर्षा करता हुआ इस प्रकरणको समाप्त करूंगा।

वास्तवमें कविवर भूधरदासजीने श्री पार्श्वनाथ पुराणको काव्य रचना अति मनोहर काव्य बनादिया है। दृष्टांतके लिये हम उनका आद्य का छप्पय देते हैं—

भुवनतिलक भगवंत, संतजन कमल दिवाकर।
जगतजंतु बंधव अनंत, अनुपम गुणसागर॥
रागनाग मयमंत, दंत-उच्छेपन बलि अति।
रमाकंत अरहंत, अतुल जसवंत जगतपति॥

तथा च-विमलबोधदातार, विश्व विद्या परमेसर।
लछमीकमलकुमार, मार-मातंग-मृगेसर॥
मुखमयंक अवलोकि, रंक रजनीपति लाजै
नाममंत्रपरताप, पाप पन्नग डरि भाजैं॥

क्या ही आदरणीय तथा आलंकारिकाभूषणोंसे सज्जित है। पाठक क्षमा करें, हम इन कविकी इस लेखनशैलीकी उत्तमताको देखकर आश्चर्य होता है तथा हम इसी पुराणके और श्लोक कुछ देंगे जिससे कि इनकी विद्वत्ताका पूर्ण पता लगे—

जय अश्वसेन कुलचंद्र जिन, सक्र चक्र पूजित चरन।
तारो अपार भवजलधिते, तुम तरंड तारन-तरन॥
बाघ सिंह वस होयहिं, विषम विषधर नहिं डंकैं।
भूत प्रेत वेताल, व्याल वैरी मन संकैं॥
साकिनि डाकिनि अगनि, चौर नहि भय उपजावैं।
रोग सोग सब जाहिं विपत नेरे नहिं आवैं॥ (पा० पु०)

पाठक वृंद, कविकी इस अनुपम कवितामें शब्दालंकार, अर्थालंकारको देखकर क्या नहीं कह सकते कि जैनेतर काव्योंमें ऐसे पुराणरत्न उपस्थित होंगे? अब इन्हीं कविका बनाया हुआ "जैनशतक" ग्रंथ है। इसकी उत्तमताका वर्णन क्या करें यह हिन्दीमें पद्यमय अत्यंत काव्य है जिसकी कि कुछ बानगी हम आपको देते हैं—

चितवत वदन, अमल चंद्रोपम, तजि चिंता चित होय अकामी।
त्रिभुवन चंद्र पाप तप चंदन, नमत चरन चंद्रादिक नामी।

तिहुँ, जग छई चंद्रिका कीरति, चिह्न चंद्र चिंतत शिवगामी ॥
वन्दौं चतुर चकोर चन्द्रमा, चन्द्रवरन चंद्रप्रभस्वामी ॥

इसी तरह और भी चतुर्विंशति स्तुति कैसी उत्तम की गई है इसको हमारे पाठक वृंद ही विचारें।

इस कविने यज्ञमें हिंसानिषेधमें कैसे अनमोल बोल कहे हैं—

कहै पशु दिन सुन यज्ञके करैया मोहि,
होमत हुताशनमें कौनसी बडाई है।
स्वर्गसुख मैं न चहौं "देहु मुझे" यौं न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है॥
जो तू यह जानत है वेद यौं बखानत है,
जग्य जलौ जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है।
डारै क्यौं न बीर यामैं अपने कुटुंब ही कौं,
मोहि जिन जारै जगदीश की दुहाई है॥

प्रिय पाठकवृंद! कविकी जब यह सरल, सयुक्ति यज्ञमें हिंसाका निषेध, अन्य-मतावलम्बि देखते हैं तो दांतों तले उँगली दबा लेते हैं। बस इन कव्युत्तमके दो ही ग्रंथोंकी बानगी देकर हम आगे बढ़ते हैं। हम स्वर्गीय कविवर द्यानतरायजीकी कविताकी अब उत्तमता बतावेंगे। हम उदाहरणके लिये इनका "धर्मविलास" पेश करते हैं। वास्तवमें हिंदी संसारमें यह एक उत्तम पद्य ग्रंथ है। इसकी भी थोड़ी बानगी भव्य पाठकोंके निमित्त पेश करता हूं। ज्ञानीका वर्णन आपने छप्पयमें इस प्रकार किया है—

धाम तजत धन तजत, तजत गजवर तुरंग रथ।
नारि तजत नर तजत, तजत सुवपति प्रमाद पथ॥
ओपि भजत अघ भजत, भजत सब दोष भयंकर।
मोह तजत मन तजत, सजत दल कर्म सत्रुवर॥
अरि चट्ट चट्ट सब कट्टकरि, पट्ट पट्ट महि पट्ट किय।
करि अट्ट लट्ट भवकट्ट यदि, सट्ट सट्ट सिव सट्ट लिय॥
तजत अंग अरधंग करत थिर, अंग पंग मन।
लखि अभंग सरवंग, तजत वचननि तरंग मन।
जित अनंग थिति सैलसिंग, गहिं भावलिंग वर।
तप तुरंग चढ़ि समा रंगरचि, करम जंग करि।

अरि झट्ट झट्ट मदहट्ट करि, सट्टसट्ट चौपट्ट किय।
करि अट्ट नट्ठ भव कट्ठ दहि, सट्टसट्ट सिव सट्ट लिय। इत्यादि

विचारक गण! विचारिये कैसी अनुपम कविता है। इसके रस वैराग्यके चढ़ावको देखिये तथा जैनेतर नागरी काव्य पुंजमेंसे शायद ही इस ढंगकी उत्तम कविता मिले। ऐसी कविताओंके पुंजका पुंज इनके काव्योंमें पाया जाता है।

अब हम आपको कविवर भगवानदासजीका भी परिचय देंगे। आपका वृहद्ग्रंथ-समुच्चय हिन्दी जैन काव्योंमें पाया जाता है। आपकी कविताकी यादें हम यहां पर दें तो ठीक होगा! विचारशीलविद्वदुत्तम! प्रायः कवि केशवदासको प्रायः सब हिन्दी संसार जानता होगा। कवि केशवने अपना "रसिकप्रिया" नामक काव्य बनाकर समालोचनार्थ कविवर विद्वच्छिरोमणि भगवानदासजीके समीप भेजा। कविवर भगवानदासजीने १ पद्य इसकी समालोचनामें भेजा। वह पद्य आपलोगोंके लिये दिया जाता है जिससे कि आपकी उत्तम कविताका पता लगेगा।

बड़ी नीति लघु नीति करत वहै, वाय सरित बद बोय भरी।
फोज आदि फुनगुणीमंडित, सकलदेह मनुरोग दरी।
श्रोणित हाड़ मांस मय मूरति, तापर रीजत घरीय घरी।
ऐसी नारि निरषि कर केशव, रसिक प्रिया तुम कहा करी।

प्रिय पाठकवृन्द! देखिये कैसी उत्तम कविता तथा अर्थ (केशवने रसिकप्रिया एक स्त्रीपर मोहित रची थी) स्फुट है। वास्तवमें हमने जितना भी संस्कृत साहित्यकी तरह हिन्दी जैन काव्यको देखा है, कहीं भी श्रृंगार रसकी प्रधानता नहीं देखी। अकसर जैनेतर हिन्दी काव्य श्रृंगाररसमय ही होते हैं। कृष्णजीकी स्तुति भी राधाके कटाक्ष, गोपियोंकी आसक्तता तथा नीच भावोंसे भरी हुई होती है लेकिन जैन काव्यकुंजमें कहीं भी श्रृंगार मय कविताका आविर्भाव नहीं पाया जाता है। अतः यह बात बिलकुल अक्षरशः सत्य है कि जैन काव्योंके निर्माणमें श्रीयुत भूधरदासजी, दौलतरामजी, बनारसीदासजी, श्री वृन्दावनदासजी आदि कविश्रेष्ठोंने श्रृंगार रसकी निंदा करते हुए वैराग्यामृतहीको रचा है जिसको पढ़कर हिन्दीके विद्वान् प्रतिदिन वैराग्य नदीमें सानंद गोते-लगाते रहते हैं तथा केशवादि द्वारा रचे हुए, अजैन काव्योंमें वैराग्यका नाम तक नहीं पाया जाता। बल्कि इन लोगोंके काव्यपुंज भारतवर्षकी अवनतिमें ही प्रधान कारण हुए हैं।

मान्यवर पाठक! अब हम आपको कविश्रेष्ठ बनारसीजीकी कवितामृत पान कराते हैं-

"गुण विचार श्रृंगार वीर उद्दिम उदाररुख।
करुणा सम रस रीति, हाँस हिरदै उछाह सुख ॥
अष्ट कर्मदल मलन, रुद्र बरते तिहिं थानक।
तन विलेच्छ बीभत्स, द्वन्द्व दुख दशा भयानक।
अद्भुत अनंत बल चिंतवन, शांत सहज वैराग ध्रुव।
नवरस विलास परकाश तब, जब सुबोध प्रगट हुव।

पाठक, जिस तरह जैनेतर कवि श्रृंगारज विषय पर ही कविता रचकर सुकवि बननेका दावा करते हैं। किन्तु हमारे कविश्रेष्ठ श्रीयुत बनारसीदासजीने उपर्युक्त पद्यमें आत्मामें ही नवरस अति सुंदर रीत्या घटित किये हैं। पर वृक्ष त्माका यह नवरस युक्त अपूर्व चितवन अविद्वानोंको अभूतपूर्व आनन्दमय बनाता है।

ऐसी जैन कवियोंकी अनुपम सुन्दर रचिना क्या अजैन काव्योंमें मिल सकती है? हम इन्हीं कविश्रेष्ठकी कविता ऐसी पेश करते हैं कि समस्त हिन्दी संसारमें इस ढंगकी कविता नहीं मिलेगी।

भगवान पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथकी स्तुतिमें आपका

(सर्वहस्वाक्षर) मनहरण

करम भरम जग तिमिर हरन खग।
उरगल खन पग शिव मग दरसि।
निरखत नयन भविक जल वरषत।
हरषत अमित भविक जन सरसि ॥ १ ॥
मदन कदन जित परम धरम हित।
सुमिरत भगत भगत सब डरसि।
सजल जलद तन मुकुट सपत फन।
कमठ दलन जिन नमत बनरसि ॥ २ ॥

(सर्व हस्वकारान्त) पट्पद

सकल करम खल दलन कमठ शठ पवन कनक नग।
धवल परम पद रमन, जगत जन अमल कमल खग।
परमत जलधर पवन, सजल धन समतन समकर।
पर अघ रज हर जलद, सकल जननत भव भय हर ॥
यम दलन नरक पद छयकरन, अगम अतट भव जल तरन।
वर सबल मदन वन हरद हन, जय जय परम अभय करन ॥ ३ ॥

प्रिय पाठकवृन्द, विचारिये कैसी उत्तमतम कविता है। क्या ही पदलालित्य अर्थ-गांभीर्यमय एवं च अलंकारोंसे सुसज्जित है। इन कवीश्वर श्रीयुत बनारसीदासजीद्वारा जैन काव्यपुंज बहुतेतासे रचा गया है। इन कविवरकी कविता देखकर श्रीयुत रामायण लेखक गोस्वामी तुलसीदासजी भी इनपर अत्यंत, प्रेम, श्रद्धा करनेलगे थे। एक दफे गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी "रामायण" की समालोचनाके बारेमें पूछा तब पूज्य कविवरजीने उत्तर दिया।

राग साँरगवृन्दावनी।

विराजै रामायण घट मांहि, मरमी होय मरम सो जानै।
मूरख मानैं नाहिं विराजै, रामायण घट मांहि ॥ १ ॥
आतमराम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत।
शुभपयोग वा नर दल मंडित, वर विवेक रण खेत, विराजै० ॥२॥
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदलि भाग।
भई भस्म मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग, विराजै० ॥ ३ ॥
जरे अज्ञान भाव राक्षसकुल, लरे निकांछित सूर।
जूझे रागद्वेष सेनापति, संसै गढ़ चकचूर, विराजै० ॥ ४ ॥
विलखत कूंभकरण भव विभ्रम, चुलकित मन दरपाव।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव, विराजै०
मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परणति सेना, छूटे छपक गुण बान, विराजै० ॥६॥
निरखि सकति गुन चक्रसुदर्शन, उदय विभीषण दीन।
फिरै कबंध मही रावणको, प्राणभाव शिरहीन, विराजै० ॥ ७ ॥
इह विधि सकल साधुघट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह व्यवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम, विराजै० ॥

तुलसीदास इस अनुपम आध्यात्मिक चातुर्यको देखकर अत्यंत प्रसन्न हुये और अपनी कविताको " किसी भी लायक भी नहीं " यह कहकर कविवरजीकी भक्तिसे "**भक्ति विरदावली**" नामक सुन्दर कविता (पार्श्वनाथ स्तोत्र) प्रदान की। वास्तवमें इन कविवरकी जितनी भी कविता कुसुम वाटिका है वह सब आध्यात्मिक गंधसे सुगंधित है। आपका बनाया हुआ "**समयसार**" कैसी सुंदर कविताओं आध्यात्मिक रससे भरा हुआ है इसके लिये हम आप लोगोंको एक पद्य भेंट करते हैं—

राम रसिक अरु रामरस, कहन सुननको दोय।
जब समाधि परगट भई, तब दुविधा नहि कोय॥
नंदन वंदन थुति करन, श्रवण चिंतवन जाप।
पठन पठावन उपदिशन, बहुविधि क्रिया कलाप॥
शुद्धातम अनुभव जहां, शुभाचार तिहि नांहि।
करम करम मारग विषें, शिवमारग शिव मांहि॥

और भी जैनसाहित्यमें अच्छे २ ग्रंथ हैं उनमें से श्रीयुत कवि वृन्दावनजीके पुत्र अजितदासने जैन रामायण जिसमें कि ७२ अध्याय हैं, रची हैं। काव्यदृष्टिसे यह भी अनुपम कविता है। इसमें तुलसीदासजीकी तरह निर्मूल विवेचन नहीं किये गये हैं।

जैनकाव्यनिकुंजमें "बुधजनसतसई" भी बहुत उत्तम ग्रंथ है। इसकी बानगी के लिये हम नीचे लिखते हैं—

आपने पहिले १०० श्लोकोंमें जिन स्तुति की है उनके दो श्लोक यह हैं—

तीन लोकके पति प्रभु, तीन लोकके तात।
त्रिविधि शुद्ध बन्धन करूं, त्रिविधि ताप मिट जात।
मन मोहो मेरो प्रभु, सुन्दर रूप अपार।
इन्द्र सारिखे थकगये, करि करि नैंन हजार॥

आगे जाकर इसी ग्रंथमें बहुत ही अच्छी २ शिक्षायें, तथा शुभ नीतिपुंज है। जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है।

प्रिय पाठको, अब आपका समय नहीं लेना चाहता हूं बल्कि इसी कथनको उपसंहारसे कहता हूं।

संसारमें संस्कृत काव्यसागरके समान कोई भी काव्य इस जगतमें नहीं है, तिस संस्कृत काव्यसागरमें भी जैन काव्यसागर अत्यंत विस्तीर्ण है तथा इसके अन्दर वह वह रत्न उपस्थित हैं कि यदि काव्यरसिकवृन्दोंने इसको छाँना तो उन रत्नोंको प्राप्त होगी, जो कि जैनियोंके लिये ही वे भूषण नहीं होंगे बल्कि इस ३० कोटि जनसंख्यावाले भारत वर्षके लिये अनुपम प्रदर्शनीयका स्थान पावेंगे। तथा जैन हिन्दीकाव्यपुंज भी हिन्दी काव्यनिकुंजमें अनुपम, वैराग्यके रससे अमृतको पिलाता हुआ, दीन हीन भारतके रक्षक असहयोगकी जांन अहिंसाके सूक्ष्म तत्त्वोंकी शिक्षा देकर इतिहासमें अपना सर्वोपरि नाम लिखवा सकता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

भ० च्चरणाम्बुजलान।
स्वतंत्रेच्छुक-बनवारीलाल स्याद्वादी, शास्त्रीयखंड, मोरेना (ग्वालियर)

जैन काव्योंका महत्व।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० ५)

(लेखकः-पं० सतीशचन्द्र गुप्त, हि० स्या० म० विद्यालय-काशी)

मांयुक्तचन्द्रप्रभुचन्द्रकान्तिः निर्व्याप्य स्वक्षैः भुवि व्याप्तकीर्तिः॥
कैस्य स्वकान्त्या जितसूर्यबिम्बः चन्द्रोत्तरो "माणिक"मां तनोतु॥१

अयि काव्यरसिक सज्जनवृन्द!

जैन काव्योंका महत्व लिखना ऐसा ही जैसे कि एक शिशुका शिशुचन्द्रका ग्रहण करना, या कोई साधारण चित्रकार विचित्राकार प्राकृतिक रचना सौंदर्यकी, सुन्दरता चित्रमें विचित्ररूपसे उतारे, तदनुसार मैं भी अपने उत्साहको आपके समक्ष प्रत्यक्ष समर्पित करूंगा।

वह दिग्गज प्रौढ़ न्याय शास्त्रकारका कथन है कि कोई विषय सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठान इष्ट प्रयोजनसे समयुक्त होता है, अथवा जो कुछ भी लेखन, या वक्तव्य होता है वह वैदिक व प्राचीन, अर्वाचीन मतानुसार आठ अंगोंसे होता है। कहनेका तात्पर्य है कि, उसके नामकी व्याकरणानुसार व्युत्पत्ति १, स्वरूप लक्षण २, भेद प्रभेद ३, तदन्वय व्यतिरेक लाभ, ४ अर्थात उससे फायदा, तद्व्यतिरेक हानि ५, उसके विना नुकसान ६, तदुपयोग किस काममें वह काम आसक्ता है। पूर्व अपूर्व स्थिति ७ और सपयानुसार समृद्धिसाधन ८, इस प्रकार प्रायः सभी शास्त्रकार मानते हैं, अन्यथा मनुष्योंका उसमें अनादर होजाया करता है, इसलिये एवं प्रकारसे तथा व्याकरणानुसार व्युत्पत्ति पूर्वक जैन-काव्यमय कनककटोरीका रसास्वादन जैन काव्योंमें ही है, क्योंकि जब हम संसारके समस्त सरस काव्योंको स्वसमक्ष समुपस्थित करते हैं, तब जैन काव्यकुंजमें कुमुदेशकी किसलय किरणोंसे-काव्यकुमुद कुसुमित होजाते हैं। तथा उसी चन्द्रकी चित्तचोरिणी चांदनी, चकोरिणीके चित्तको चमत्कृति उत्पन्न करती है। बस, उस समय काव्य कुमुदकौमुदी प्रेमियोंके लिये प्रेमी, और प्रेमी उसके प्रेम पुजारी हो जाते हैं।

अथवा उन नीले पीले काले काले हरियाले या रंगबिरंगे मेघमण्डलकी छायातलमें बालचंद्र, और सघनसुगन्धितसे आच्छन्न आम्र आम्रलतिकाओंपर कुहू कुहू करनेवाली काली काली कोकिला, तथा कल कल कलको करनेवाले कोक पक्षी, और गुलाब, केवड़ा, जुही,

नोट-१ लक्ष्मी, २ न्यायशास्त्र, ३ किरण, ४ आत्मनः, ५ प्रियम्।

चमेली, आदि विचित्र पुष्पोंपर विहार करनेवाले काले काले भ्रमर, व प्राकृतिक नानाप्रकारके दृश्य, कनककर्णिकामय कनक पुष्प मनुष्यके संकुचित हृदयकमलको जैसे सगद्गद और हर्षित विकसित करते हैं, वैसे ही काव्यकुंजमें, शृंगार, वीर, करुणा, शांतादि रस, उपमा उपमेय चित्रादि विचित्र अलङ्कारोंसे मनुष्यका स्नेह-चित्त, शृंगार, वीर, करुणा, या शांतरसमें भीग जाता है। तथा वार २ उन आनन्द लहरियोंमें लहराया करता है। तदनुसार जैन काव्योंसे आनन्द और आनन्दके साथ २ अनुपम अनिर्वचनीय आनंदकी प्राप्ति होती है।

अब यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य क्या वस्तु है और इसकी क्या व्युत्पत्ति है?

श्री जैन व्याकरण मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है कि "जिनो-देवता यस्य स जैनः जैनानां काव्यानि, तेषां महत्वमिति जैन काव्यमहत्वम्" अर्थात् जैन काव्योंका महत्व, अथवा जैन काव्येष्वेव महत्वम् , जेनकाव्य महत्वम्। अर्थात् जैन काव्योंमें ही महत्व (खूबी) है, जैनेतर काव्योंमें नहीं है। अथवा केवल काव्य शब्दकी व्युत्पत्ति की जाय तो कि "कश्च अश्च इति कौ तौ व्येति प्राप्नोति तत् काव्यं अर्थात् आत्मसुख या स्वर्गादि सुख, मोक्षको प्राप्त करता है या कराता है उसे काव्य कहते हैं, क्योंकि "चतु-र्वर्गफलप्राप्ति काव्यादेव प्रवर्त्तते" अर्थात् धर्म, अर्थ, काम मोक्षकी प्राप्ति काव्यसे ही होती है। अथवा कस्य ब्रह्मणः विः पक्षी इति कविः कविरिव अयमिति कविः तस्य कर्म काव्यं अर्थात् जिस प्रकार हंस पक्षी दूध पानीका भेदकर सार भाग दूधको ग्रहण करता है, उसी प्रकार कवि विद्वान दुर्जनतादि हेय पदार्थोंको छोड़कर सार उपादेय मोक्षादि या तत्वोंको ग्रहण कर आत्मसुखमें निमग्न हो परमपदको प्राप्त करता है। अथवा काव्यका प्रथम अक्षर, ककार ही लेते हैं, तब भी इसका स्थान सर्वोच्च सिद्ध होता है क्योंकि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ककारका स्थान कण्ठ कहलाता है "अकुह विसर्जनीयाः कण्ठ्याः" अर्थात्–अ कवर्ग विसर्ग ये कण्ठ स्थानीय होते हैं, तथा यह व्यञ्जनोंमें प्रथम ही गणित होनेसे इसका सबसे वर्णोंसे विशेष अर्थ प्रतिपादकत्व है, यही कहा है कि–

"ककारः सर्ववर्णानां मूलं प्रकृतिरेव च, **ककाराज्जायते सर्वं कामं कैवल्य-मेव च**" अर्थात्–ककार सर्व वर्णोंमें मूल प्रकृति है और ककारसे सब काम तथा कैवल्य केवलज्ञान प्राप्त होता है। अथवा "कचते दीप्यते मस्तकोपरि शोभते" इति भावः। अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जैसे मस्तकपर मणि शोभता है, वैसे ककारवर्ण शोभा सहित वांछित फलको देता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि (राजाद्यर्थंतगुणोक्तिराजादिभ्यः कृत्ये च ट्यण्) अर्थात्-इस जैनेन्द्र महाभाष्य सूत्रसे "ट्यण्" प्रत्यय करके काव्य शब्द सिद्ध होता है।

अब यहां प्रश्न हो सकता है काव्य क्या वस्तु और क्या लक्षण है ? तो एक हिन्दी परिभाषासे विदित होता है कि-"परस्पर एक दूसरेको सहायता चाहनेवाले तुल्यरूप पदार्थोंका एक साथ किसी एक साधनमें लगा देना" काव्य कहलाता है। इससे संस्कृत भाषाके काव्य सहित सरलता, माधुर्य, रसाधिक्यता, मनोहरता, पदयोजना, अर्थगूढ़, अक्षर अहर, भाव प्राचुर्य, कांति, प्रसन्नतादि गुण समझना चाहिये।

इसलिये कविकुञ्जरोंने काव्यका विलक्षण लक्षण विवेचना और गम्भीरतापूर्वक यही किया है कि:-

" चमत्कृतिजनकतावच्छेदकं धर्मवत्वं काव्यत्वम्।"

अर्थात्-मनुष्यके हृदयको चमत्कार उत्पन्न करनेवाला धर्म ही काव्य कहलाता है।

अथवा-"रमणीयताप्रतिपादकार्थशब्दः काव्यम्।"

अर्थात्-उत्कृष्ट तथा मनोहरताका प्रकट करनेवाला शब्द काव्य है, क्योंकि शब्द रमणीयता काव्यकी वाह्य छटावल्लरी है। प्रथम तो शब्द सौन्दर्य ही सहृदय हृदयी मानवोंको काव्य पढ़नेके लिये शीघ्र उत्सुक बना देता है। पश्चात् रस, भाव, तथा अलङ्कारादि मानस सरोवरमें स्वकीय काव्य कविता कलिकाका विकास करते हैं तथा काव्यका लक्षण इस प्रकार भी करते हैं कि:-

" चतुरैचेतश्चमत्कारि कवेः कर्मकाव्यम् "

अर्थात्-बुद्धिमान पुरुषोंको चमत्कार उत्पन्न करनेवाला कविका कर्मकाव्य शब्दसे व्यवहृत किया जाता है। अथवा-साहित्यदर्पणकारने इस प्रकार लक्षण किया है कि-"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् इस शृंगार, वीर, आदि नवों ही रसोंसे युक्त काव्य कहा जाता है। यद्यपि यह लक्षण सर्व जगह व्याप्त नहीं होता है, तथापि यत्र कुत्र स्थानमें सुगंठित होता है, क्योंकि विना अलंकारसे, और निर्दोष विना काव्य श्रव्य नहीं होता है इसलिये वाग्भट कविने इस प्रकार लक्षण किया है कि-

" शब्दार्थौ निर्दोषौ सुसगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम् "

यहीं " काव्यप्रकाश " कारने लक्षण किया है कि—

" तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृति पुनः क्वापि "

अर्थात वाक्यार्थ पदादि दोषोंसे रहित, अलंकारोंसे युक्त, औदार्य, कांति, माधुर्यादि गुणोंसे युक्त, शब्दार्थ काव्य कहा जाता है, क्योंकि रसात्मक वाक्योंके होनेपर भी सौन्दर्यादि गुणोंसे रहित और सदोष होनेसे काव्य प्रशंसाको प्राप्त नहीं होता, अतः उक्त लक्षणोंसे युक्त ही सत्काव्य होते हैं। तथा पदलालित्य, अर्थगौरवता विषयगूढ़ता, रस पूर्णता, सुन्दरता, हृदयरोचकता, और शान्तता आदि गुणोंसे युक्त काव्य है तो जैन काव्य है।

काव्यके मुख्यतया तीन भेद हैं परन्तु इनके आवान्तर बहुत भेद हो जाते हैं। वे ३ भेद इस प्रकार हैं कि "गद्यपद्यमिश्रैश्च त्रिविधा" अर्थात् गद्यकाव्य, पद्यकाव्य, और गद्यपद्यमिश्रित, जैसे यशस्तिलक, जीवन्धर चम्पू आदि लेकिन यह सब काव्य, निर्दोष होनेपर ही श्रव्य होते हैं, क्योंकि एक कविका वचन है कि—

" श्रव्यं भवेत्काव्यमदूषणं यन्न निर्गुणं क्वापि कदापि मन्ये।
उत्कोरकः स्यात्तिलकाचलाक्ष्याः कटाक्षभावैरपरे न वृक्षाः॥ १॥
("धर्मशर्माभ्युदय")

अर्थात्—निर्दोषकाव्य श्रव्य होता है, निर्गुण कभी नहीं, ऐसा मैं मानता हूं, जैसे कामनीके कटाक्षोंसे तिलक नामका वृक्ष कलियोंसे युक्त होता है, और दूसरे वृक्ष नहीं कोरकित होते। इसलिये निर्दोष काव्य सुकाव्य और श्रव्य होते हैं, और ऐसे ही काव्यों द्वारा वास्तवमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति होती है। क्योंकि काव्य काव्यकुंजमें धर्म, अर्थ, काम मोक्षके लिये, अनर्गल अनावृत कपाट द्वार हैं। जो मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसके काव्य कुंजमें सरलतया प्रवेश हो जानेसे इच्छित पदार्थकी सिद्धि हो जाती है क्योंकि किसी कविके ये वचन हैं कि वे महात्मा धन्य हैं तथा उन्होंका यश सदाके लिये स्थिर है कि जिन मानवोंने काव्य कनक कटोरियोंका बनाया है, व उनमें जिन महानुभावोंकी कथा गाथा गाई गाई है, वे पुण्यवान, यशस्वी, कीर्त्ति कौमुदीके कौमुदीश कहलाते हैं"।

काव्य, कविता, जनताकी विद्वत्ताकी इयत्ता, सहृदयता, चतुरता, धार्मिकता, रचना-सुन्दरता, तथा उपम उपमेय इत्यादि भाव उसकी प्रतिमा पर प्रतिभासित कर देती है। काव्यके लक्षणानुसार पदलालित्य, सुंदरता, रोचकता, भावगम्भीरता, मधुरता, अनिर्वचनीयताके साथ २ हुआ करती है। इसलिये मनुष्य अपने २ अभीष्ट पदार्थोंमें संलग्न हो अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं। फल भी इसका यही है कि—

" काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेश युजे॥ १॥ (काव्यप्रकाश)

अर्थात्—काव्य यश—कीर्तिके लिये, व्यवहार विधि, अकल्याणके नाशार्थ, शत्रुनिवार्णार्थ, कांतासंमित उपदेशके हेतु—निमित्त किया जाता है, इससे यह तात्पर्य है कि श्री रामचंद्रादिकी तरह प्रवर्त्तना चाहिये रावण आदिकी तरह नहीं, कीर्ति आदि पूर्वोक्त गुणोंकी प्राप्ति, और व्यवहारादि दक्षता इसीसे होती है, इसीलिये हमारे प्राचीन कवीश्वर और कवि आचार्योंने काव्योंका प्रणयन तथा उपयोग किया। अतः पुरातन कालमें हिंसा, हीनता, हास्य, हिचक, ह्रास, हेना, (अपमान) हुंवाद और हठता आदि हेय दुर्गुणोंको जड़मूलसे उखाड़कर अहिंसा, हर्ष, हित, हितू, हिम्मत, होम इत्यादि हित करनेवाला काव्य क्रमशः-

धीशको जाग्रत किया था, तभीसे दीर्घदर्शिताके प्रेमी बनते हुये, सुखमय जीवन बिताने लगे थे, यह सब काव्यकी महिमा थी, क्योंकि साहित्य—काव्यका—चमकीला चंद्रमा जहां चमका रहता है, वहां उस देशका, जातिका भाग्य, धन, ऋद्धि सिद्धिकी समृद्धि धन धर्म-धाम आदि सबके लिये धाम बना लेते हैं, और जहां तद्व्यतिरेक अर्थात् जहां जिस देशमें, काव्यकुंजमें कमलाधीशकी किरणें नहीं पहुंचती हैं, वह देश, जाति, धर्म, धन, धाम आदि अधोमार्गकी नसैनी बनाकर सीधा पाताल्वास कर लेते हैं। तथा दुर्भिक्षादि रोग, अरी, मरी आकर कालके ग्रास बना देते हैं, क्योंकि किसीका कहना है कि—"मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है" अर्थात् वह देश मुर्दा कहलाता है जहां साहित्यादित्य उदित नहीं होता, अतएव चाहिये कि काव्य रचयिताको व तद्विषयके ज्ञाताओंको साथ पुरस्कारके वृद्धिसाधनमें तत्पर हों, जिससे देश जाति, धन, धर्म धाम आदिकी वृद्धि हो, और यही हमारा इष्ट प्रयोजन होना चाहिये, साथमें यह भी चाहिये कि साहित्य—काव्योंकी बड़ी कड़ी आलोचनायें हों।

इसकी पूर्व स्थिति बहुत ही उन्नत दशामें थी, यहांतक कि राजा भोजके समयमें कवीश्वरोंको एक एक अक्षरका लक्ष रुपया पुरस्कार मिलता था। लेकिन आधुनिक स्थिति-पर विचार करते हैं, तो बहुत शोक होता है, आप प्रत्यक्ष देख लें, और जिस जातिमें साहित्यकी उन्नति है वह जाति उन्नति पथपर है, और बुद्धिमान कहलाती है, दृष्टांतके लिये बङ्गला जाति है, बङ्गालियोंमें सबसे ज्यादा प्रचार है, और उसीका साहित्य सबसे ऊंचा है। बस इसी तरह हमको इस समय उन्नति करना चाहिये। जिससे इस अखिल भारतवर्षमें यह प्रसिद्ध हो जाय कि जैन साहित्य (काव्य) भी एक चीज है, और जैन साहित्य पर भी लोगोंकी अंगुली गिरने लगे। साथमें काव्यकुंजमें अलंकार, रस, पद-लालित्य, उपमा, उपमेय, लिङ्ग वचनोंमें साम्यता उच्च मानी जाती है, वह जैन काव्योंमें विशेषतया पाई जाती है, यह निर्विवाद सिद्ध होजाय।

भारतवर्षके सम्पूर्ण कवीश्वरोंने काव्यरचना चातुर्यमें अपने मानस सरोवरमें प्रतिकृति हंसिनी स्थापित कर दी है अतः जो उस प्रतिकृतिके आननेवाले मानवोंको भी कवि—अर्थात् विद्वान् कहना आवश्यकीय है। हम जैन काव्योंकी तरफ दृष्टिपात करते हैं तो **ऐहिक पारलौकिक सम्बन्धी** श्रेयस्कार्योंका कल्पवृक्ष बनाकर कवितामय एक कुसुमित काव्यकुंजमें अजर अमर कवियोंने काव्यकलाओंसे कलकलित, और कलिल काटने-वाले उस वृक्षके सुमनसस्तवक लगा दिये हैं। तथा उस काव्य कल्पवृक्षको सास्हादित विकसित शोभित करनेवाले स्तबक (गुच्छे) के दर्शन कर दर्शकगण स्वर्गसुखको भी ओछा समझने लगते हैं। विशेष तो क्या उनके हृदयकमल उस साहित्य सागरमें निमग्न हो सदा

सुखपूर्वक विलोडन किया करते हैं। जिससे आत्माकी कालिमा, अपवित्रता, अरोचकता, अपमान, कुध्यान, घमसान, अज्ञान पलायमान होजाते हैं, और इसके अनन्तर दर्पणकी तरह जाज्वल्यमान, ज्ञानभानु प्रकाशित होजाता है, पश्चात् अनन्तसुख, वीर्य दर्शनादि गुण प्रकट होते हैं। तथा आत्मा कर्म समूहोंको नष्टकर मोक्ष पदवीको प्राप्त कर लेता है, खास यही बात जैन काव्योंमें बडे महत्वकी बतलाई है।

अब इसके बाद अलंकारोंके नियममें कुछ बता देना उचित समझता हूं। क्योंकि दोषोंसे रहित होनेपर भी तथा गुणोंसे संयुक्त होने पर भी विना अलंकारोंसे वाणी शोभाको प्राप्त नहीं होती है जिस तरह स्त्री विना आभूषणोंसे नहीं शोभित होती है। अतएव अलंकारोंका होना वैसे ही आवश्यक है, वे अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, आदि भेद प्रभेदोंसे नाना तरहके होते हैं। लेकिन मुख्य भेद दो ही हैं, शब्दालंकार, अर्थालंकार उपर्युक्त तो अर्थालंकारमें परिगणन किये हैं और शब्दालंकारके छः भेद हैं—यथा—चित्र, श्लेष, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, तथा पुनरुक्तवदाभास, ये छः होते हैं। यमकादि प्रायः सर्वतोभद्रादिबन्धोंमें प्रायः श्लोकबद्ध होते हैं।

काव्योंकी रचना भी रीतिके अनुसार प्रीतिदायक होती है, इसलिये गौडीय, वैदर्भीय आदि देशकालके अनुसार करना चाहिये।

रसोंके बारेमें इतना ही कहना होगा कि जैनेतर काव्य प्रकाशादि ग्रन्थोंमें केवल आठ रसोंका विवेचन किया है, वह इस प्रकार है कि—" शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः " इत्यादि पश्चात् लिखते हैं कि " शान्तोऽपि नवमो रसः " अर्थात् शान्त नामका भी एक रस है, इसमें अजैन कवियोंकी निर्पक्ष बुद्धि है, अतः निर्पक्ष बुद्धिसे ही यह वाक्य है। लेकिन जैन कवीश्वरोंने इसको खूब अपनाया है। यहां तक कि इनके प्रत्येक काव्योंके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें, खूब ही वर्णन किया है, और वास्तवमें चाहिये भी यही क्योंकि इसीसे आत्माका कल्याण होता है।

श्री वाग्भटकवि अपने वाग्भट्टालंकारमें लिखते हैं कि—

" साधुपाकेप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥

अर्थात्—जिस तरह भोजनका अच्छी तरह पाक होनेपर भी विना सैन्धव (नमक) के अच्छा नहीं लगता है, उसी तरह नीरस काव्य भी अच्छा और श्रव्य नहीं होता है। अतः यहां भी रस कहते हैं—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः।
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः ॥

अर्थात्-विद्वान् पुरुषोंने शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य भयानक, रौद्र, वीभत्स, और शान्त ये नव ९ रस कहे हैं। और इनके भी स्थायी भाव, अस्थायिभाव अर्थात रति, हास्य, शोकादि भावोंका विस्तार किया है। इस प्रकार सम्बन्धादि फल, लाभादि पूर्वक यह "सूक्ष्म उपोद्धात" बाद हम जैन काव्य और इतर काव्योंको देखते हैं तो पदलालित्य, अर्थगौरव, शब्दगौरव, विषयगहनता, रसपूर्णता, सौन्दर्यादि गुण जैन काव्योंमें पाये जाते हैं, उतने अन्यमें नहीं पाये जाते हैं। यह बात जो विद्वान् व जिनके पास सज्ज्ञान पेटी रूपी कसौटी है वे स्वयं इस संदर्शन जान सकते हैं :-

दृष्टांतके लिये "कादम्बरी" नाम उच्च ग्रंथके कुछ अंश आपके समक्ष उपस्थित करता हूं। कादम्बरीके रचयिता वात्स्यायन वंशमें उत्पन्न कुबेर नामक विद्वान् उनके चित्रभानु और चित्रभानुके सुपुत्र श्री बाणकवि हैं। इन कविका समय काल अभी ठीक २ निश्चित नहीं हुआ है, किंतु इतिहासवेत्ताओंको तथा मुझे भी जहांतक पता चला है तो यही मालूम होता है कि राजा हंसवर्धनके समयमें ये कवि हुये थे। और हंसवर्धनकी सभामें प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उक्त राजाका समय (६१०) (६५०) है। इससे सिद्ध होता है कि इसी समयके करीब करीब हुये होंगे। इन कविकी प्रशंसा गणमान्य मनुष्य बहुत करते हैं और चाहियें भी, लेकिन यह प्रशंसा तबतक ही ठीक होती है, जबतक इनसे अच्छा काव्य-कमल विकसित न हो, नहीं तो "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" अर्थात्-वृक्षरहित प्रदेशमें अंडीका वृक्ष भी वृक्ष माना जाता है। जैसे बाणकवि, अपने "कादम्बरी" नामक गद्य काव्यमें प्रथम ही राजा शूद्रकका वर्णन करते हैं कि-

आसीदशेषनरपतिशिरः समभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरः, चतुरुदधिमेखलाया भुवो भर्त्ता, प्रतापानुरागावनतसमस्त सामन्तचक्रः, चक्रवर्त्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाणशङ्खलाञ्छनः, हर इव जितमन्मथः, गुह इवाप्रतिहतशक्तिः, कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंसमण्डलः, जलधिरिव लक्ष्मी प्रसूतिः, इत्याद्येतादृशः शूद्रको नाम राजा।

अर्थात्-समस्तराजाओंपर शासन करनेवाला दूसरा इन्द्र ही हो, चार समुद्र मर्यादावाली पृथ्वीका स्वामी, प्रतापानुरागसे राजमण्डलको अवनत कर दिया है, चक्रवर्त्तीलक्षणोंसे युक्त, श्रीकृष्णकी तरह हस्तकमलमें शंख, चक्रको धारण करनेवाला, अर्थात हस्तमें शंख चक्रादि प्रशस्त चिन्होंसे युक्त था, श्रीकृष्ण भी साक्षात् २ शंख चक्रसे युक्त ही है, और महादेवकी तरह कामदेवको जीतनेवाला, अर्थात कामदेवने भस्म कर दिया तदनुसार हमने भी उसे भस्म कर दिया, लेकिन यह बात असम्भव मालूम होती है, क्योंकि अगाड़ी चलके इस

राजाको साक्षात् कामदेव ही बना दिया है, और इस गद्यमें केवल वीररस, तथा उपमाका वर्णन किया है।

अब देखिये जैन कवीश्वर श्री हरिश्चन्द्र और श्री कविसिंह श्री वादीभसिंह जिनका सांस्कारिक नाम अजितसेन था, लेकिन पंडितोंने इनका प्रचुर पाण्डित्य देखकर "वादीभसिंह" यह नाम रक्खा। इनकी रचनाचातुर्यसे विद्वत्ता, वर्णनशक्ति गुणोंसे प्रसन्न हो जब पण्डितोंने वादीभसिंह ये नाम रक्खा तो न जाने इनकी कितनी विद्वत्ता होगी। हम यहां पर श्री हरिश्चन्द्र कविके गद्यसे मिलान करते हैं, जिससे पाठक समझ जावेंगे कि किसकी गद्य रचनामें सौन्दर्य तथा पदलालित्य, अर्थगौरव है।

यश्च किल संक्रदन इव आनन्दितसुमनोगणः, अन्तक इव महिषी-समाधिष्ठतः, वरुण इवाशान्तरक्षणः, पवन इव पद्मामोदरुचिरः, हर इव महासेनानुयातः, नारायण इव वराहवपुष्कलोदयोद्धृत धरणीवलयः, सरोज सम्भव इव सकलसारस्वतामरसानुभूतिः, भद्रगुणोऽप्यनागः, विबुधपतिरपि कुलीनः सुवर्णधरोऽप्यनादित्यागः, सरसार्थपोषक वच-नोऽपि नरसार्थपोषकवचनः, आगमाल्याश्रितोऽपि नागमाल्या-श्रितः, एतादृशः सत्यन्धरनाम राजा।

अर्थात्—महाकवि हरिश्चन्द्र राजाका वर्णन इस शैलीसे करते हैं कि राजा सत्यन्धर इन्द्रकी तरह देवता समूहको और (शब्दश्लेषसे बतलाते हैं) विद्वज्जनोंको प्रसन्न करता है, तथा देवताओंको ही प्रसन्न करता है, अतः इस राजामें इन्द्राधिपत्य द्योतन किया, इतने ही वाक्यमें अतिशयोक्ति, श्लेष, उपमा, उपमेय, शब्द संदर्भ, अर्थ गौरव कितना है? यह आप स्वयं विचारें। अब आगे चलिये। कालकी तरह महिषीसे युक्त है, यहांपर भी वही बात हैं, अर्थात् राजा महिषी—रानी, और काल महिषी—भैंसयुक्त है। वरुणकी तरह दिशाओंको रक्षण करनेवाला है, अर्थात् वरुण देवताकी तरह है तो वरुण दिशाओंकी रक्षा करता है और आशाओं यानी इच्छाओंको अंत पर्यंत रक्षा करता है। वायुकी तरह कमलकी सुगंधसे युक्त है, अर्थात्—वायु पद्मकी आमोद सुगंधिसे रुचिर है और, यह पद्मा—लक्ष्मीसे युक्त है। महादेवकी तरह महासेनसे अनुयात है, अर्थात् महादेव, अपने पुत्र महासेन—कार्त्तिकेयसे युक्त हैं, और राजा महासेना, अर्थात् महतीसेनासे अनुगत हैं। श्री कृष्णकी तरह पृथ्वीको धारण करनेवाला है, अर्थात् श्री कृष्णने वराहावतार धारण करके पृथ्वीका उद्धार किया है, और यह राजा, वराहपुष्कलोदय—अर्थात् श्रेष्ठ युद्धमें पुष्कल—विशेष उदयसे धरणीवलयको धारण किया है। इत्यादि, देखिये किस चतुरता बुद्धिमत्तासे दोनों पक्ष घटाते हुये, रचना सौंदर्य, पदलालित्य, उपमा, उपमेय, विरोध, अतिशयोक्ति, व्यतिरेकादि अलंकारोंमें कैसी

सुसज्जित गद्यरचना की है। तथा, इन्द्र, कृतान्त, वरुण, पवन, महोदय, श्रीकृष्ण, ब्रह्मा आदि देवताओंका आरोप किया है। यह बात इस तरहकी रचना बाणकविकी नहीं है। तथा और भी राजाका वर्णन किया है कि—

" वक्त्रं चन्द्रप्रभं यद्भुजयुगमजितं यस्य गात्रं सुपार्श्वम् । "
कृत्स्नं स्वाधीनधर्म्यं हृदि पुरुचरितं शीतलं सुव्रताख्यम् ॥
राज्यं श्रीवर्द्धमानं कुलमतिविमलं कीर्त्तिवृन्दं त्वनन्तम् ।
सोऽयं प्रत्यक्षतीर्थेश इव विजयते विश्वविद्याविनोदः ॥

(जीवन्धरचम्पू)

अर्थात्—सम्पूर्ण विद्याओंका विनोदी, राजाका चन्द्रके समान मुख, किसीसे भी नहीं जीते गये भुजयुगल, अच्छे पार्श्वोंसे युक्त शरीर, स्वाधीन धर्म कार्य करनेवाला, श्रेष्ठचरित्र युक्त, शीतल सुवृतोंसे युक्त, सदा वर्द्धमान राज्य, कुल अत्यन्त विमल, कीर्तिवृन्दसे युक्त है, इस प्रकार प्रत्यक्ष तीर्थेशकी तरह विजयको प्राप्त होता है। यहां शंका हो सकती है कि प्रत्यक्ष तीर्थंकर किस तरह तो यह न्याय है कि 'नामैकदेशे नामैकग्रहणम्' अर्थात् नामके एकदेश ग्रहण करनेसे सम्पूर्ण नाम ग्रहण होता है। अतः चन्द्रप्रभसे चन्द्रप्रभु भगवान तीर्थंकर, अजितसे अजितनाथ, ऐसे ही सुपार्श्वनाथ, धर्मनाथ, शीतलनाथ, सुव्रतनाथ, अनन्तनाथ, और श्री वर्द्धमान् महावीर अन्तिम तीर्थंकरके समान ही प्रत्यक्ष तीर्थंकर ही हैं।

साहित्य पाठको ! निष्पक्षपात दृष्टिसे देखो कि श्री जैन कवियोंने किस अनुपम कवित्वशक्तिसे सौन्दर्य, अलङ्कार, पदलालित्य और अर्थगौरव किया है। इसमें वीर, शान्त रस किस खूबीसे बतलाये हैं।

अब आपके सामने गद्यचिंतामणिके कुछ अंश यहां उपस्थित करता हूं। इन गद्यकाव्यके कर्त्ता कविसिंह श्रीवादीभसिंह हैं। इनका और श्री बाणकविका समय एक नहीं है, वादीभसिंह इनसे पहिले हुये हैं। क्योंकि यशस्तिलकचम्पूके व्याख्याकार श्रीश्रुतसागर मुनि हैं, उन्होंने, द्वितीय आश्वासके १२६में श्लोक में लिखा है कि वादीभसिंह मेरे शिष्य हैं तथा वादिराज भी। ऐसा सोमदेव सुरि रचित यशस्तिलकमें लिखा है। और सोमदेवसुरि तो इनसे बहुत पहिले हुये हैं। इससे और भी इनका काल पहिले निश्चित होता है।

ये भी अपने काव्यमें राजा सत्यन्धरका वर्णन करते हैं कि—

प्रतापविनिमदवनीपतिमुकुटमणिवलभीविटङ्कसंचरितचरणनखकान्तिचन्द्रातपः, करतलकवलितकरालकरवालमयूखतिमिराभिसरदाहवविजयलक्ष्मीलक्षितसौभाग्यः, क्षत्रधर्मदिनकृदुदय....लघुचमूभारविनमतेन महीनिवेशे फणाचक्रं फणाभृतां चक्रवर्त्तिनो जर्जरयन् दिशि

दिशिनि हितविजयस्तम्भः इति, इत्यादि एतादृशो नाम सत्यन्धरो राजा।

इस गद्यमें बाणकविकी अपेक्षा वीर रस, समासभूयस्त्व, जो कि गद्यका खास गुण है, और इसीका नाम ओजगुण कहलाता है, क्योंकि "ओजः समासभूयस्त्वं तत् गद्येऽति सुन्दरम्" अर्थात्–समासभूयस्त्व ओज गुण कहलाता है, वह गद्यमें अत्यन्त सुन्दर होता है, इस लिये इस गद्यमें विशेषतया समास भूयस्त्व, पदलालित्य दिया है।

श्रीबाणकवि अपनी कादम्बरीमें एक जगह महाश्वेता नामकी नायिकाके भावी पतिके मरणमें विलाप दिखलाते हैं। तथा महाश्वेता पतिमरणसे दुःखित हो विलाप करती है।

"हा अम्ब! हा तात! हा सख्य! इति व्याहरन्ती तथा हा नाथ जीवितनिबन्धन! आचक्ष्व क्व मामेकाकिनीमशरणमकरुणं विमुच्य यासि, ईषदपि विलोकय, आर्त्तास्मि, भक्तास्मि, अनुरक्तास्मि, बालास्मि, अगतिकास्मि, दुःखितास्मि, अनन्यशरणास्मि मदनपरिभूतास्मि"

पाठको! देखो कविने किस चतुरतासे वर्णन किया है, आप विचार सक्ते हैं कि इस गद्यमें अर्थ गौरव है? और कोई कारुणिक रस भी नहीं विशेष प्रतीत होता। यहां पर हम पूछते हैं कि "जब दुःखावस्था होती है तथा पतिमरणसे स्त्रीकी अत्यन्त ही दुःखावस्था हो जाती है, लेकिन बाणकवि वर्णन करते हैं कि माता पिता और सखियोंको सम्बोधन कर कि मैं दुःखित हूं, भक्त हूं, अनुरक्त हूं, अनाथ हूं, इत्यादि कहकर कवि अन्तमें कहते हैं कि "मदनपरिभूतास्मि" अर्थात्–कामदेवसे परिपीड़ित हूं, देखो, विचित्र बात है कि जो स्त्री पतिमरणसे दुःखित है वह ऐसा वाक्य कैसे कह सकती है? मेरी समझसे तो कोई न कहेगा, यह केवल श्रीबाणकविकी न्यूनता है।

अच्छा, अब इसीका वर्णन कविसिंह श्रीवादीभसिंहने किया है। हा, मनोजाकार रूप! हा, महागुण मणिद्वीप! हा, मानसविहारराजहंसस्वरूप! हा मदनकेलिचतुरभूप! मम पुण्येरूप! कासि कासीति विलपन्ती, शोकविषमोहिताङ्गी लताङ्गी तां प्रत्याययन्ती काचित् देवता गिरमुत्थापयामास।

इस रचना शैलीको आप जान सक्ते हैं किस सौन्दर्यसे, पदलालित्य तथा कारुणिक रससे कविने वर्णन किया है। और भी देखिये कि कहीं २ इनका गद्य बिल्कुल मिलता है, सम्भव भी है कि इन्होंने इससे सहायता ली हो। जैसे–

"वत्स! बलनिषूदनपुरोधसमपि स्वभावतीक्ष्णया धिषणया धिक्कुर्वति सर्वपथीनपाण्डित्ये भवति पश्यामि नावकाशमुपदेशानाम्–तदपि करशतसहस्रेणापि कवलयितुमशक्यः प्रलयतरणिपरिषदाप्यशोष्यो यौवनजन्मा मोहमहोदधिः, अशेषभेषजप्रयोगवैफल्य

निष्पादनदक्षो लक्ष्मीकटाक्षविक्षेपविसर्पी दर्पज्वरः । मन्दीकृतमणिमन्त्रौषधिप्रभावः प्रभावनाटकनटनसूत्रधारः स्मयापस्मार इति किंचिदिह शिक्ष्यसे ।" (गद्यचिंतामणि)

बस, ऐसा ही बिल्कुल वर्णन शब्द परिवर्तन कर बाणकविने किया है । जैसे—

"तात चन्द्रापीड ! विदितवेदितव्यास्याधीतसर्वशास्त्रस्यते नाल्पमप्युपदेष्टव्यमस्ति, केवलं च निसर्गत एव भानुभेद्यमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्, दारुणो लक्ष्मीमदोऽत्यन्ततीव्रोदर्पदाहज्वरोष्मा, अमन्त्रगम्यो विषमो विषय विषस्वादमोह इत्यतो विस्तरेणाभिधीयसे ।"

(कादम्बरी)

और भी बहुतसी जगह मिलान पाया जाता है । गद्यचिन्तामणिमें शान्त रस बतलानेके लिये, विषय वासनादि छुड़ानेके लिये शिक्षा दी है कि—

"अभिनवविहंगलीलावनं यौवनं, अनङ्गभुजङ्गरसातलं सौन्दर्यं, स्वैरविहारशैलूषवृत्तस्थानमैश्वर्यं, पूज्य पूजाविलङ्घनलघिमजननी महासत्वता च प्रत्येकमपि भवति जननामनर्थाय, चतुर्णां पुनरेतेषामेकत्रसन्निपातः सद्य सर्वानर्थनाभित्यर्थेऽस्मिन् कः संशीति"।

(गद्यचिन्तामणि)

इसी भावको लेकर बाणकविने लिखा है कि—

"गर्भेश्वरत्वमाभिनवयौनवत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीयमनर्थपरम्परा, सर्वतः नामेकैकमप्येषामायतनम्, किमुत समवायैः" (कादम्बरी)

काव्यप्रेमियो ! यदि फिर भी निष्पक्षपात दृष्टि इन गद्योंपर डालेंगे तो अवश्य स्फुट रीतिसे मालूम हो जायगा कि कादम्बरीकी रचना गद्यचिन्तामणिसे मिलती है, और संभव है कि इन्होंने कुछ अंश लेकर वर्णन किया हो, और यह भी बात है कि इनका ऐसा करने पर भी वादीभसिंहकी रचना और पदलालित्य, सौन्दर्यसे कहीं अधिक न्यून है ।

अब हम कादम्बरीकी विशेष आलोचना, मिलान करके एक बातका संदर्श और करा देना उचित समझते हैं, वह यह है कि—इसमें अर्थकाठिन्य, शब्दकाठिन्य कहीं २ इतना है कि प्रकृत कथाभाग भी स्मरण रखना मुश्किल पड़ जाता है, और सरलता भी इतनी है कि हितोपदेशादिकी तरह गद्य कह डालते हैं—अर्थकाठिन्यका एक उदाहरण देते हैं कि—

"कुमुदिन्यपि दिनकरकरानुरागिणी भवति" इत्यादि—

अर्थात्—कुमुदिनी चन्द्रमाकी किरणोंसे अनुरागिणी होती है, ये यहांपर प्रकृत अर्थ

है, परन्तु दिनकर शब्दसे सूर्यका अर्थ द्योतक होता है, चन्द्रमा नहीं, सो यहांपर चन्द्रमा यह अर्थ लगाया है, और इस अर्थके लिये बड़ी खींचतान की है, अच्छा मान भी लिया जाय किसी तरह यह अर्थ तो यहां अप्रसिद्ध नामका दोष आता है, जो काव्यके सारे महत्वको घटा देता है। खैर, इसे विद्वान् संकेतमात्र ही समझकर श्री बाणकविकी विद्वत्ताकी इयत्ताका परिचय जान लेंगे। क्योंकि विद्वानोंको संकेतमात्र काफी होता है। यह मेरा ही मत नहीं है बल्कि इस विषयमें अच्छे २ मनुष्योंने हस्तक्षेप किया है। जैसे प्रोफेसर वैबर बाणकविकी गद्यपर अपने विचार प्रकट करते हैं कि—

"Bana's prose is an Indian wood when all progress is rendered impossible by the under-growth, until the traveller cuts out a path for himself and where even then he has to reckon with malicious wild beasts in the shape of unknown words affright him."

अर्थात् जैसे हिन्दुस्तानके जंगलमें उन सघनवृक्षोंके बीचमें पैदा हुई छोटी २ झाड़ियोंके मारे रास्तागीर गमन करनेमें असाध्य हो जाता है, और किसी तरह मार्ग निकाल भी लेता है तो दुष्ट भयंकर जन्तुओंसे पिंड छुड़ाना पड़ता है, उसी तरह बाणकविके गद्यमें अप्रसिद्ध शब्दोंके मारे कथोपयोगी भाग समझना मुश्किल पड़जाता है, और यदि वह मेहनतसे अर्थ निकाल भी लेता है तो अप्रसिद्ध और कठिन शब्दोंके समझनेके लिये पृथक् कष्ट उठाना पड़ता है। वास्तवमें यह बात अक्षरशः सत्य है।

अब श्री कालिदास कविके विषयमें इतना कहना ठीक होगा कि इनका समय सर्व सम्मत (६३४) है। इनके जीवनचरित्रसे आबालवृद्ध परिचित ही हैं। यहांतक कि कालिदासको कविकुंजर कहते ही हैं, कोई २ तो ऐसा कहते हैं कि यदि कालिदास केवल "मेघदूत" नामक काव्य बनाते तो भी इनका यश संसारमें चिरस्थायी रहता, लेकिन इन्होंने, "अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः" इस वाक्यपर ४ काव्य बनाडाले, जो आजकल बहुत ही प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम, रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव हैं। लेकिन नहीं कह सकते कि इन्होंने भी वैसाही काट छांट किया हो, किन्तु इस बातसे अवश्य प्रतीत होता है कि सम्भवतया जहां तहां किया हो, क्योंकि राजा भोजराजके स्वर्गारोहणकी बात सुनकर दुःखित कालिदासजीने ये कहा था कि—

"अद्यधारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिता खण्डिता सर्वे भोजराज दिवं गते॥

अर्थात्—राजा भोजके स्वर्ग जानेपर, पृथ्वी निराधार, सरस्वती आलम्बनरहित, पण्डित खण्डित, ये सब बातें एक साथ होगईं।

श्रीवादीभसिंहने अपनी गद्यमें लिखा ही है कि-"अथ निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती" इत्यादि, कविवर एक जगह और दण्डकारण्यका वर्णन करते हैं कि-

"वासरावसानसंक्षिप्तनीवाराङ्गणनिषादिमृगगणनिर्वर्तितो रोमन्थम्, आलबालम्भः पानलम्पटाविहगपेटकविश्वासकृते सेकान्तविसृष्टवृक्षमूलमुनिकन्यकाविरतकारुण्यम् दण्डकारण्यम्, इति,(गद्यचिन्तामणि)

यही नकल कर कालिदासने अपने प्रसिद्ध रघुवंशमें श्लोकमय निबद्ध किया है कि-

"सेकान्ते मुनिकन्याभिः कारुण्योज्झतावृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालपालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसंक्षिप्त नीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गणभूमिषु ॥

अर्थात्-मुनि कन्यकाओंने सेचन करनेके अन्तमें क्यारियोंमें जलपीनेवाले पक्षियोंके विश्वासके लिये करुणासे वृक्षोंको छोड़ दिया है । और धूपके नष्ट हो जानेसे इकट्ठी की हुई धान्य विशेष सहित झोपड़ियोंकी भूमिपर बैठनेवाले मृगरोमन्थ अर्थात चर्वणका चर्वण कर रहे हैं ।

यही अर्थ वादीभसिंहकी गद्यका है ।

अब हम आपका ध्यान श्री १०८ श्रीमज्जिनसेनाचार्यकी तरफ दिलाते हैं । ये हमारे पूज्य आचार्य राजा अमोघवर्षके समयमें हुये थे । और उसी समय कवि कालिदासने मेघदूतको बनाया, और समय आजकलकी अपेक्षा बहुत प्रतिष्ठित माना गया था, लेकिन भगज्जिनसेनाचार्यजीने चोरित बतलाया, इसीपर "पार्श्वाभ्युदय" नामक काव्यका प्रणयन किया। जो काव्य, शृंगाररससे पूर्ण था, वही वैराग्य रसमय बना दिया, तथा वैराग्यरसका संचार किया, तथा इसी प्रकार जैनसाहित्य, साहित्य विषयिक वर्णन करने पर भी अंतमें शांतरस, वा मध्यमें उसका वर्णन करते हैं । इस पार्श्वाभ्युदयके अवतरणसे जैनकाव्योंकी महत्ता और भी प्रकट होती है ।

आचार्यजी आदिपुराणादि बहुत काव्य ग्रन्थोंको बना गये हैं जिनके समक्ष कोई काव्य इस ढंगका नहीं पाया जाता, अथवा जिन्होंने बनाया भी है वह इससे सहायता लिये विना न रहे हों । जैसे कालिदास कवि रघुवंशमें लिखते हैं कि-

"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

अर्थात्-सूर्यवंशके पूर्व कवियोंने वाङ्मयरूप किवाड़ खोल दिये हैं, अतः छिद्र की हुई मणिमें डोरेकी तरह मेरी भी गति हो जायगी ।"

भगवज्जिनसेनाचार्य कहते हैं—

" पुराणकविभिः क्षुण्णे कथामार्गेऽस्ति मे गतिः ॥ "

अर्थात्—पूर्व कवियोंसे शुद्ध किये कथा मार्गमें मेरी गति हो जायगी।

श्रीजिनसेनाचार्य—

" क्व गंभीरः पुराणाब्धि क्व मद्बोध दुर्विधः।

सोऽहं महोदधिं दोर्भ्यां तितीर्षु यामि हास्यताम्।

अर्थात्—गंभीर पुराण समुद्र कहां, और मुझ सरीखे दुर्बोध जन कहां, यह मैं बाहु-ओंसे बड़े भारी समुद्रको तैरनेकी इच्छा करने वाला हास्यताको प्राप्त होऊंगा।

श्री कालिदास—

क्व सूर्यप्रभवोवंश क्व चाल्पविषया मतिः।

तितीर्षु दुस्तरं मोहादुडपेनास्मि सागरम् ॥

अर्थात्—सूर्यवंश कहां, और अल्पविषयी बुद्धि कहां, लेकिन सूर्यवंशका वर्णन करना मानो मोहसे दुस्तर समुद्रको टूटी नौकासे पार करना है।

कालिदास कुमारसम्भव नामक काव्यमें रचना करते हैं कि—

असंभृत मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परंसाथवयःप्रपेद ॥

महाकविहरिश्चन्द्र अपने धर्मशर्माभ्युदयमें कल्पना करते हैं कि—

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टे नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत्।

इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥

अर्थात्—अङ्गयष्टिका विना प्रयत्न सिद्ध यौवनरूपी रत्न कहां नष्ट हो गया इसी लिये ही क्या नम्र काय होकर वृद्ध मनुष्य देखता हुआ पृथ्वीपर घूमता है।

अब यहां पर विचारनेकी बात है कि "असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टे" इतना पूरा पद कालिदासने कुमारसम्भवमें जोड़कर श्लोक तैयार किया है, तथापि, हरिश्चन्द्रकविकी रचना, सौन्दर्य, अलंकार, उत्प्रेक्षामें कम ही हैं।

श्री माघकविको भी सारा संसार जानता है, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध ही है कि "काव्येषु माघः कविकालिदासः" अर्थात् काव्योंमें माघ काव्य, और कवियोंमें कालिदास प्रसिद्ध हैं। आपको कालिदासके बारेमें पूर्ण परिचय मिल ही गया है, माघकविकी इस प्रसिद्धिके साथ २ यह भी बात है कि माघकविके श्लोक अग्निसाक्षात्कार बनाकर लिखे गये हैं, तथा जो दूषित हों श्लोक हों वे इस अग्निमें जल जावें, ऐसी कविकी प्रतिज्ञा थी, अब हम नहीं कह सकते यह बात कहां तक सच है, क्योंकि इतने श्लोक दूषित हैं कि

साधारण व्याकरण जानने वाला जान सकता है । जैसे–

" संमूर्च्छदुच्छृङ्खलशंखनिस्वनः स्वनुप्रयातेपदहस्य शार्ङ्गिणि ।
सत्पानि निन्ये नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेषामपिमेदिनीभृताम्॥
(शिशुपालवध)

इस श्लोकमें "द्वयेषां" यह शब्द निर्लक्षण दोषसे दूषित है, द्वयेषाम् की द्वयानाम् होना चाहिये क्योंकि व्याकरण (लक्षण) शास्त्रमें द्वयेषां न बनकर द्वयानाम् रूप बनता है । अतः द्वयानां सुलक्षण है, और द्वयेषां निर्लक्षण है, और भी समझना चाहिये । जैसे–

तनौ ममुस्तत्रकैटभद्विष, तपो धनाभ्यागमसंभवः मुदा"

अर्थात्–श्रीकृष्णपरमात्माके हृदयमें नारद ऋषिके आनेकी खुशी (हर्ष) समाई नहीं ।

जिनसेनाचार्य–

वसुन्धरा महादेवी पुत्रकल्याणसम्पदा ।
तदा प्रमोद पूर्णाङ्गी न स्वांगे नन्वमात्तदा ॥

अर्थात्–वसुन्धरादेवी अपने पुत्र कल्याणकी सम्पत्तिसे उत्पन्न हुए आनन्दसे फूली नहीं समाई । यह कल्पना आचार्यजीकी है, इससे सिद्ध है जैन काव्योंमें ही महत्व है ।

इसके अनन्तर अलंकार और बंधोंकी विशेषता बतलाते हैं–

यह चित्रालंकार है, इसका लक्षण, बहुत क्रियायें, द्वितियपादमें यमक, अतालव्यञ्जन अवर्ण अवर्णतीस्वर हों तथा सर्वतः पाठ समान हों । जैसे–

श्लोक–पारावाररवारापारा क्षमाक्षक्षमाक्षरा ।
वामानामममनामावारक्ष मर्द्धमक्षर ॥

अर्थात् हे जिननाथ, समुद्रध्वनितरश वागीश ! हे सर्वज्ञ ! हे पापनाशक ! हे नद्र ! तुम्हारी क्षमा अपार है, अतः मुझको प्रसन्न करो, शोभित करो, रक्षा करो ।

यह श्लोक वैराग्य और शांत रससे भरा हुआ है ।

श्री माघकविका सर्वतोभद्र इस प्रकार है कि—

" सकारनानारकासकायसाददसायका ।
रसहवावाहसार, नादवाददवादना ॥

इसका भी चित्र बनाया जा सकता है । इसका अर्थ है–कि सोत्साह नाना प्रकारसे शत्रु समूहोंके नाशक । शरीर तथा गति और बाणोंके शब्दसे और वाह श्रेष्ठोंके नादसे बाघोंकी ध्वनि हो रही है । इसमें कविने शब्दकी विशेषता बतलाई है । परंतु इसमें इतनी त्रुटि है कि इसमें क्रियाओंकी विशेषता है । रस भी साधारण है ।

पूज्यवर जिनसेनाचार्यने अलंकारचिन्तामणिमें बहुत ही अच्छी तरह दरशाये जैसे, देखिये–

छत्र बंध ।

शीतलं विदिताथौंघं शीतीभूतं स्तुमोऽनघम् ।
सुविदां परमानन्दं सूदितानङ्ग दुर्मदम् ॥

अर्थात् सर्व पदार्थज्ञ, शीतीभूत, पाप रहित, विद्वानोंको आनन्ददायि कामदेवको नष्ट करनेवाले शीतलनाथ भगवानको नमस्कार करते हैं ।

हारबन्ध ।

चन्द्रातपं च सततप्रभपूतलाभम् ।
भद्रं दया सुखद मंगल धाम जालम् ॥
वन्दामहे वरमनन्तजयात् याजम् ।
दर्शां वीरदेव सुरसंचय शास शास्त्रम् ।

अर्थ, स्पष्ट है यहां पर वीर देवकी स्तुति सरस्वती कण्ठाभरण आदिमें नहीं पाय जाता है ।

सर्पबन्ध–

" पल्लवकमहिता "

अर्थात पल्लव पता किसको प्राप्त हुआ, अथवा जार पुरुषोंसे पूजित की गई ।

इत्यादि नाना प्रकारके बन्ध होते हैं मुरज, गोमूत्रिका, अष्टदल, षोड्शदलपद्म आदि समझना चाहिये, हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि ये बन्ध जैनेतर प्रसिद्ध सरस्वती कण्ठाभरणादिमें नहीं पाये जाते हैं । यह संक्षेपसे बतला दिया गया है, अगर अन्य काव्योंमें हों भी तो इसके जैसे पदलालित्य आदिमें कम हैं । पाठक ! लेख बढ़ जानेके भयसे यह विषय छोड़ कर इसी काव्यका अङ्ग समस्यापूर्त्ति है, इस समस्याकी समस्यापूर्त्ति किन कवियोंने अच्छी की है तो हम कहेंगे, कि श्री भगज्जिनसेनाचार्यकी हुई समस्यापूर्त्तिका ज्वलन्त प्रमाण एक पार्श्वाभ्युदयका अवतरण है । इनके मुकाबिलेका कोइ भी कवि इनके सम्प्रदायमें नहीं हुआ है । यह कवित्व शक्तिकी महिमा है कि शृंगारमय काव्यको शान्तरसमय करदेना ।

श्री कविवरकालिदास और कविसिंह श्रीवादीभसिंह–

" क्षत्रचूड़ामणि" नामक काव्यको प्रायः सभी जानते हैं । अतः ध्यान दें कि यह क्या है : कालिदास–

" प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥
रात्रिंदिव विभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् ।
तत्सिषवे नियोगेन सविकल्प पराङ्मुखः ॥
सवेला वप्रवलयां परिखीकृत सागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकमहीमिव ॥ (रघुवंश)

वादीभसिंह—

१—सुखदुःखे प्रजाधीने तदाभूतां प्रजापते।
प्रजानां जन्मवर्ज्यं हि सर्वत्र पितरो नृपाः॥

२—रात्रिंदिवविभागेषु नियतो नियतिं व्यधात्।
कालातिपातमात्रेण कर्त्तव्यं हि विनश्यति॥

३—प्रबुद्धेऽस्मिन् भुवं कृत्स्नां रक्षत्येकपुरीमिव।
राजन्वती भूरासीदन्वर्थं रत्नसूरपि॥ (क्षत्रचूड़ामणि)

महानुभाव! इन श्लोकोंका अर्थ क्रमशः नीचे लिखे प्रमाण समझें।

१—प्रजाधीशकी प्रजा आधीन होने सुख दुःख प्रजापतिको होते हैं। क्योंकि राजा जन्मको छोड़कर माता पिता होते हैं।

२—राजाने रात दिनका टाइमटेबिल (समय विभाग) बना लिया, क्योंकि काल व्यर्थ चले जानेसे कर्त्तव्य नष्ट होजाता है।

३—राजाके प्रबोधित होने पर राजा समग्र पृथ्वीको एक नगरीकी तरह रक्षा करता है। और रत्नसु पृथ्वी राजसहित यथार्थ नामवाली होगई।

आप उक्त श्लोकोंसे मिलान कर सकते हैं कि वादीभसिंह कृत क्षत्रचुडामणिके श्लोकोंमें कितनी सरलता है, और प्रत्येक श्लोकमें नीति वाक्यामृत भर दिया है। "कि कालातिपातमात्रेण कर्त्तव्यं हि विनश्यति" ठीक उर्दू शायरका कथन है कि "गया वक्त हाथ आता नहीं, सदा दौर दौरे लगाता नहीं" इत्यादि नीतिके उपदेशके साथ तत् तत् स्थलोंपर शांत रसका—वैराग्यका खूब ही वर्णन किया है, धर्मशास्त्रका उपदेश दिया है। तथा पदलालित्य, समुचित पद, हृदयग्राही दृष्टांत, हास्य—रोचकता, अनेक लोकोक्ति, मितोक्ति आदि गुणोंसे मिश्रित यह अद्वितीय काव्य है इसका प्रचार खूब करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त हमें इसका गौरव होना चाहिये कि हमारे यहां ऐसे २ महाकाव्य-रत्न हैं, जिनके सदृश अभी कहीं नहीं पाये जाते, और जिनके श्लोकोंको ही देखकर अच्छे २ पण्डित दांतों तले अंगुली दबाते हैं। जैसे—

"क ख गो घ ङ च छौ जो झा ञ ट ठ ड ढा ण तु।
था द धान्य प फ बा भा मा या रा ल व शां ष स"॥

इसका अर्थ अच्छे २ विद्वानोंने नहीं करपाया, इसका सादृश्य हमें कहीं मिलता ही नहीं, और नहीं भी होगा। बत्तीस व्यंजनोंका क्रमशः श्लोक बनाना किसीकी शक्ति होगी। इसमें विद्वान् अनुमान ही लगालें।

चित्रालंकारके श्लोक दे देना ठीक है । जैसे—

" ककाङ्ककङ्ककेकाङ्ककेकिकोकैककुः ककः ।
अकुकौकः काककाकककाकुकककां ककुः ॥

तात्पर्य मात्र—यहां पर कवि समुद्रका स्वाभाविक वर्णन करते हैं कि—गरुड़, मयूर, चक्रवाक, तथा जलके काकोंका रक्षक, और विष्णुका निवास स्थानभूत समुद्र है ।

" ततोऽसितातु तेऽतीतः तेतृतोती तितोऽतृतः ।
ततोऽताति ततौ तौते तत ताते ततो ततः " ॥

भाव मात्र—विशिष्ट पूजाके योग्य ! स्वकीय ज्ञानवृद्धिके हेतु, ज्ञानावरणादिकोंके नाशक ! अपरिग्रहसे महान् ! ज्ञानवृद्धि प्राप्त ! हे त्रैलोक्येश्वर तुम्हारा ज्ञान विस्तीर्ण है । इस प्रकार चित्रके एकाक्षरी, दो अक्षरी भेद होते हैं ।

अब मैं आप लोगोंका समय ज्यादा न लेकर नैषधीय चरित्र, और धर्मशर्माभ्युदम्-से मिलान करके लेख समाप्त करूंगा ।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यके कर्त्ता श्री हरिश्चन्द्र कवि हैं । बाणकविने स्वरचित हर्ष चरितमें इनको प्रारम्भमें स्मरण किया किया है ।

" पद्बन्धोज्ज्वलोहारी कृतवर्णक्रमस्थितिः ।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

इस प्रकार निष्पक्षपाती अजैन कवियोंने भी इनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है इनकी अनोखी सूझ, कल्पना चातुर्य बहुत गंभीर है, पदलालित्य और अर्थगौरव कूट २ कर भर दिया है । यथा—राजा महासेनकी विद्या प्रशंसाको कवि वर्णन करते हैं ।

" ततः श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनः विशङ्कमानेव पराभवं ततः ।
विशेष पाठाय विधृत्य पुस्तकं करात्स्न, मुञ्चत्यधुनापि भारती ॥

अर्थात्—शास्त्र समुद्रके पारगामी राजासे पराभवकी शंका करती हुई भारती—(वाणी) विशेषपाठ, याद करनेके लिये अब भी पुस्तकको नहीं छोड़ती है ।

भाव—भारतीके हस्तमें पुस्तक है, इसीपर कविने उत्प्रेक्षा की है कि राजा विद्या पारंगत है, अतः मुझे शास्त्रार्थमें न हरादे इसलिये पुस्तक धारण की है । अथवा, राजा चौदह विद्याओंमें अत्यन्त निपुण है, इससे कविने यह भी द्योतन किया है ।

श्री हर्ष कवि—

ये कवि श्रीहरि पण्डितके सुपुत्र हैं, और इनकी माताका नाम मामल्लदेवी है ।

और अभी (इस समय) इनका कोई समय निश्चित नहीं हुआ है। परन्तु खष्ट सं० ११७४से कुछ पहिले इस काव्यका निर्माण हुआ है, क्योंकि इससे जाना जाता है कि बनारसमें ११२० खष्ट सं० में राजा गोविंदचन्द्र राज्य करते थे पश्चात् विजयचंद्र तत्पश्चात् जयन्तचंद्र राजा हुये; और इनकी सभामें इन्होंने प्रतिष्ठा पाई है। तथा इनकी प्रेरणासे हर्ष कविने यह नैषधीय चरित्र बनाया है। अब जयन्तचंद्रके कालसे इनका भी वही काल कुछ आगे पीछे हो।

हर्षकवि राजा नलकी विद्या बुद्धि वर्णन करते हैं—

"अधीति बोधाचरणप्रचारणै; दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥

अर्थात्—राजा नलने १४ विद्याओंमें अध्ययन, अर्थज्ञान, अनुष्ठान, अध्यापन, इस प्रकार चार अवस्था करते हुये चतुर्दशत्व प्राप्त किस तरह किया यह मैं नहीं जानता, यह श्लोक सामान्यार्थ है। हम यहां पूछते हैं १४ विद्याओंमें चतुर्दशत्व क्या प्राप्त किया विद्या तो १४ होती ही हैं, उससे क्या अथवा, यह कविका पिष्टपेषण है। और यदि चतस्रावस्थात्वेन सिद्ध करोगे तो भी ठीक नहीं क्योंकि चतुर्दशत्वका वह स्वयं ज्ञाता है दूसरी बात ये है कि क्षत्रियोंको अध्यापनका अधिकार नहीं है यह मनुस्मृति वचन है, लेकिन क्षत्रिय राजा नल अध्यापन करता यह बात शास्त्र विरुद्ध है। अच्छा और पदलालित्य, उत्प्रेक्षा आदि सज्जन जान सकते हैं कि किसमें विशेषता है।

कवि हरिश्चन्द्र—

"कृतौ न चेत्तेन विरञ्चिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृशः पयोधरौ।
तदङ्गलग्नोऽपि तदा निगद्यतां स्मरः परासुः कथमाशु जीवितः ॥

अर्थात्—ब्रह्माने सुनयनीके स्तनोंको अमृत रखनेके दो घड़े बनाये हैं, यदि न बनाये होते तो उसके अङ्गमें लगा हुआ मृतकामदेव किस तरह जीवित होता, यह बतलाइये। तात्पर्य यह है कि महादेवने कामदेवको भस्म कर दिया था, अतः मर गया और मरा हुआ अमृतसे जीवित हो जाता है, वही उत्प्रेक्षा की है कि रानीके स्तन अमृत कलश हैं, और उससे कामदेव जीवित हो गया है।

श्री हर्ष—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयो प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥

अर्थात्—रानी दमयंतीके कुच (स्तन) कांतिझरसे अगाधको प्राप्त दमयंतीके शरीरमें स्मर और यौवनके तैरनेके लिये दो घड़े हैं।

महानुभाव ! विचारें कि कैसी भद्दी कल्पना है कि तैरनेके घड़े, और कविने अमृतकलशकी उपमादी है। तथा मृतको अमृत रस देकर सदा जीवित ही कर दिया है।

कवि हरिश्चन्द्र—

" कपोलहेतोः खलु लोलचक्षषो विधिः व्यधात् पूर्णसुधाकरं द्विधा।
विलोकतामस्य तथा हि लांछनच्छलेन पश्चात् कृतसीवनव्रणम्॥

(धर्मशर्मा०)

अर्थात्–ब्रह्माने राज्ञीके कपोलमंडल बनानेके लिये पूर्ण चंद्रमाके दो टुकड़े कर दिये, यदि नहीं तो देखिये, कि कलङ्कके व्याजसे टुकड़े कर पीछे सीवनका व्रण ही मालूम होता है, चंद्रकलङ्कपर उत्प्रेक्षा की है।

हर्ष कवि—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्ती वदनाय वेधसा।
कृतमध्यविलं विलोक्यते धृत गम्भीर खनी खनीलिम॥ (नैषध)

अर्थात्–ब्रह्माने दमयन्तीका मुख बनानेके लिये हृतसारकी तरह चंद्रमा, गहरे गड्ढे व आकाशकी नीलिमासे युक्त, अथवा मध्यमें किये विलकी तरह दिखलाई देता है। अर्थात्–दमयंतीका मुख स्वच्छ है।

कवि हरिश्चन्द्र–ॐ शब्दकी कल्पना–

" इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः।
लिलेख वक्त्रे तिलाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मंगलाक्षरम्॥

(धर्मशर्मा)

अर्थात्–सृष्टिकी रचनाके बाद कलश अर्पण करनेमें उत्सुक ब्रह्माने अदृष्टिगोचर राज्ञीको बनाकर-रानीके मुख गत तिलक चिह्नके मध्यमें भृकुटीके बहानेसे ॐ यह मङ्गलाक्षर लिख दिया ! अर्थात भृकुटीका आकार प्रायः ॐ सरीखा होता है। प्रकारान्तरसे–

उदीरिते श्रीरतिकीर्त्तिकान्तिभिः श्रयाम एतानिति मौनवान्विधिः।
लिलेख तस्यां तिलकाङ्कमध्ययोः भ्रुवोर्मिषादिति संगतोत्तरम्॥

अर्थात्–लक्ष्मी, रति, कीर्त्ति, कांति, आदि गुणोंने ब्रह्माके पास जाकर अर्जी (Application)की, इसको सुनकर मौनी ब्रह्माने तिलकाङ्क मध्यमें भृकुटीके बहानेसे ॐ यह संगतोत्तर लिख दिया। अर्थात ॐ स्वीकारार्थक है। पाठक ! इत्यादि उपर्युक्त दृष्टांतोंसे जान सकते हैं कि, पदलालित्य, ओज, सौन्दर्य जैन काव्योंमें विशेष है। इस श्लोककी कल्पना विचित्र है। ऐसी कल्पना अच्छे २ कवियोंमें नहीं की है ये

अनुपम ही श्लोक हैं। ऐसे ही द्विसंधान, चतुर्विंशति संधान भक्तामर, इत्यादि बहुतसे काव्य हैं जो अनुपम संज्ञामें ही गणित हैं। अब इस कथनसे मालूम होता है, और आप, इतनेसे जान सकते हैं कि जैन काव्योंमें ही महत्व है। क्योंकि संकेत विद्वानोंको काफी होता है, या एक चावलसे तमाम हाड़ीका पता चल जाता है, उसी प्रकार यहांपर भी जान लें। और यह भी जान लें कि जैन काव्योंमें, पदलालित्य, सुन्दरता, रोचकता, अर्थगौरव कितना है।

अब मैं आपका ज्यादा समय न लेकर उपसंहार कर, लेख बहुत बढ़ जानेके भयसे दो एक मार्मकी बात बतला कर समाप्त करूंगा।

प्रिय साहित्य रसिकगन।

यथार्थमें काव्यसे (साहित्य) से देशका उद्धार होता है। साहित्य सौरभसे स्वदेश विशेष उन्नतिके शिखर स्थायी होता है। मानव शक्तिका संचार होता है। और इससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिये इसका प्रचार करना परमावश्यक है, क्योंकि इससे उभयलोकमें सुख शान्ति मिले—इसलोकमें निश्चित सुखकी प्राप्ति होती ही है कि "काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" अर्थात् काव्यशास्त्रके विनोदसे धीमान् पुरुषोंका काल व्यतीत होता है। साथमें जैन काव्योंमें इतनी गम्भीरता एवं महत्व है कि साहित्यमें सम्पूर्ण अद्भुत, अलङ्कार, रस, सौन्दर्य, क्रीड़ा, नायक, नायिका, रति, हास्य, राग आदिका खूब अच्छी तरह वर्णन करके अन्तमें शांतरसका वर्णन किया है। ऐसा अन्य कालिदासादि कृत काव्योंमें नहीं पाया जाता। दृष्टांतके लिये आप "मेघदूत" को लीजिये। इसका वर्णन आद्योपान्त श्रृंगार रसमय है। विद्यार्थी, या अन्य साधारण जन इसे पढ़कर मार्गच्युत होसकते हैं। तथा उपादेय छोड़ हेय कार्योंमें फंस जाते हैं। जिससे उनको नाना भवोंमें नाना दुःख उठाना पड़ते हैं, इसी प्रकार और भी जैसे गीतगोविन्द आदिकोंमें श्रृंगार हास्यादिकोंका ही वर्णन किया है। तथा शांत रसका नाम मात्र भी नहीं लिया है। इससे पढ़नेवाले छात्रोंको हानि उठानी पड़ती है। छोटी अवस्थामें इन काव्योंकी शिक्षा लाभदायक नहीं होसकती। परन्तु जैन काव्योंमें ऐसा वर्णन नहीं है। हमारे कवीश्वर और कवि आचार्योंने भिन्न २ अवस्थामें वर्णन किया है, तथा शांतरसका तो जैन काव्योंमें आदि, मध्य, अंतमें खूब ही विवेचन किया है, जिससे शृङ्गारादिकी तरफ आत्मा नहीं झुकती, और न व्यर्थकी बातोंमें चित्त प्रवेश करता है। अंतमें शांत रसमें ही आत्मा संलग्न होजाती है। इस आत्माको हितकारी धार्मिक शिक्षासे आत्मशुद्धि, नियम, जप, तप, परीषह सहनेकी शक्ति समुत्पन्न होजाती है, और यह विचार उत्पन्न होने लगते हैं कि—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
मणौ वा लोष्टे वा बलवतिरिपौ वा सुहृदि वा ॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशः यान्ति दिवसाः ।
कदा पुण्येऽरण्ये जिन जिनेति प्रलपतः ॥ १ ॥

अर्थात्–सर्पमें, हारमें, कुसुम शय्यामें, पत्थरमें, मणिमें, लोष्ठमें अथवा, अत्यंत बलवान शत्रुमें या मित्रमें, तृणमें, स्त्रीसमूहमें समदृष्टिसे युक्त मेरे दिवस उस पुण्य अरण्य (वन) में हे जिनेन्द्र ! हे जिनेन्द्र ! या णमोकार मंत्र जपते हुये कब व्यतीत होंगे ।

इसी प्रकार विचार करते हुवे काव्य कनक कटोरीसे शांतरसका आस्वादन करते हुये, अभिलषित पदार्थ–ध्येय की प्राप्ति होजाती है । बस, यही अन्तिम अवस्थाको प्राप्त होकर आत्मा अनन्तदर्शन और शक्ति प्राप्त कर अनंतज्ञानसे शांत रसका आस्वादन कर अनंत सुखमें सदाके लिये लीन होजाती है । बस यही मोक्ष है, और इन्हीं काव्यगत कारणोंसे उसकी प्राप्ति होती है । इसलिये काव्यरत्नको प्राप्त कर उसकी प्रखर कान्तिमय किरणसे काव्यकुन्जके अखिल कमलोंको कुसुमित–प्रफुल्लित कर उन काव्यकुंज कमलोंकी आमोद गोदमें आमोद प्रमोदसे प्रमुदित हों, और सदा चिरस्थायी प्रमोदमें प्रमुदित आत्मानुभव करें ।

इति, शुभं भूयात, शुभं भूयात, शुभं भूयात ।

विनीत–

सतीशचन्द्र गुप्त, वि० स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी ।

क्षत्रचूडामणि (जीवंधरचरित्र) भाषा ।

जैन काव्योंका महत्व।

(जैन साहित्य सभा-लखनऊका लेख नं० ६)

(लेखक-पं० अजितकुमार शास्त्री-बम्बई।)

अज्ञानतमको भेदनेमें उदित-भानु समान हैं।
कर्म-पर्वत चूरनेको इन्द्र सम बलवान हैं॥
विपरीत वादी संघने जिनसे पराजय ही लही।
वे! अजितनाथ जिनेश कीजो ज्ञान परिपूरण मही॥

मान्यवर साक्षरसन्दोह !

यद्यपि नाना पदार्थमालासे परिभूषित इस संसाररूपी विशाल प्रासादको योगीश्वरोंने साररहित बतलाया है किन्तु आश्चर्यके साथ कहना पड़ेगा कि इसी मनोहर मंदिरमें वे रमणीय वस्तुएं विद्यमान हैं जिनकी सौन्दर्यधाराका अवगाहन करके मनुष्य अपूर्व चेतसीय प्रफुल्लताको प्राप्त कर लेते हैं। अतएव उस समय ऐसा अनुमान होता है कि शायद वह अनुपम आल्हाददायिनी सुरभि उन ऋषीश्वरोंसे दूरदेशिनी ही रही होगी। अन्यथा उनका संसारको निःसार कहना नितान्त असंभव हो जाता। प्रत्युत संसारको सार परिपूरित सहर्ष स्वीकारकर लेते। अस्तु।

संसारके विस्तृत मैदानमें यद्यपि मानवीय चित्तके आकर्षक तथा प्रमोदोत्पादक अनेक विषय विद्यमान हैं जिनमें न्याय व्याकरण सरीखे शुष्क विषयोंको भी स्थान दिया गया है। इन सभी विषयोंमें साहित्य विषय सर्वोत्तम है। क्योंकि मानसिक ग्लानिको हटाकर उसमें नवीन आमोदकारी चमत्कारको जन्म देनेवाला साहित्य ही है। इसी साहित्य रूपी उपवनके सुन्दर वृक्षोंका सौरभ जिन व्यक्तियोंने भ्रमर बनकर अच्छी तरह ग्रहण किया है वे व्यक्ति यह नहीं समझते हैं कि हृदयका आल्हाददायी तथा विचित्र नवीन भावोंका प्रदाता अन्य पदार्थ भी संसारमें कहीं विद्यमान है। उनको स्वर्गीय सुख साहित्यके सन्मुख तृणतुल्य मालूम होता है। सारांश यही है कि प्रमोदवनमें पर्यटन करनेके लिये साहित्यकी अनिवार्य आवश्यक्ता है क्योंकि साहित्य विषयसे शून्य व्यक्ति पशु होता है। नीतिकार भी यही पुष्ट करते हैं। विशेष कहना व्यर्थ है। साहित्य विषयका अचिन्त्य वैभव वचनातीत है। अस्तु।

आज हमको जैन साहित्यकी ओर झुककर उसका पदस्थ निश्चय करना है। अर्थात् हमको यह बात जाननी है कि सुरभिशालिनी साहित्य पुष्पवाटिकामें जैन साहित्य कैसे वृक्षका रूप धारण किये उपस्थित है ? सिद्धांत, न्याय, व्याकरणादि विषयोंके समान यह तरुवर सर्वोच्च है क्या ? । अथवा निम्नश्रेणीमें सम्मिलित है ?। ऐसा विचार करनेके प्रथम ही यह विचार लेना श्रेयस्कर होगा कि 'साहित्य' शब्दका वाच्य क्या है ? ।

साहित्यका लक्षण साहित्यकारोंने यही किया है कि:—

'चमत्कृतिसमुत्पादकवाक्यविन्यासः साहित्यम् ।'

अर्थात् हृदयको अपूर्व चमत्कार देनेवाली शब्द रचना ही साहित्य है ऐसा ही लक्षण ग्रन्थान्तरोंसे भी उपलब्ध होता है। उसमें अंतर केवल शाब्दिक भिन्नतासे ही है। तात्पर्य एक ही है।

व्याकरणानुसार यदि 'साहित्य, शब्दका अर्थ देखा जाय तो यही उपलब्ध होता है कि "हितेन हेयोपादेयेन ज्ञानेन सहेति सहितं, सहितानां भावः साहित्यम्" अर्थात् हेय, उपादेयके ज्ञान करानेवाले विषय जिसमें विद्यमान हों वह साहित्य है। व्याकरणानुसार किया हुआ साहित्य शब्दका यह अर्थ भी दोषी न होगा क्योंकि साहित्यमें उपर्युक्त विषय ही बहुधा रहा करता है। अस्तु।

इन उपर्युक्त लक्षणोंसे यह भाव प्रकट हुआ कि ,मनोहर शब्द-रचना, ही साहित्य कहलाती है; किन्तु प्राक्तन समयमें भी रमणीय वाक्य रचनाको काव्य शब्दसे ही कहा है। एवञ्च आधुनिक संसार भी यही कह रहा है कि रमणीयवाक्यविन्यास काव्य है। इसकी साक्षी हमको प्राचीन ग्रन्थोंसे तथा आधुनिक व्यवहार परिपाटीसे मिल जाती है। अलंकारचिन्तामणिमें अजितसेन आचार्यने लिखा है कि-

"शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं ।
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम् ॥
लोकद्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी ।
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम् ॥"

अर्थात् अनेक अलंकार, गुण, रीति, व्यंगादिकसे तथा किसी नेताके वर्णनसे परिभूषित उभय लोकका कल्याणकारक तथा पुण्य और धर्मका कारणभूत काव्यशास्त्र है। उसको प्रज्ञाशाली कवि निर्माण करे।

वाग्भटालंकारमें वाग्भट आचार्यने भी ऐसा ही लिखा है-

"साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥"

अर्थात् गुण अलङ्कारसे सुशोभित, स्पष्ट रीति तथा रसोंसे संयुक्त मनोहर शब्द तथा अर्थकी रचना ही काव्य है। कवि अपने यशोपार्जनके लिये ऐसे काव्यका निर्माण करे।

इन दो उदाहरणोंके अतिरिक्त अनेक शास्त्रीय प्रमाणोंसे ऐसा ही सिद्ध होता है। अतएव यह ज्ञात हो जाता है कि साहित्य शास्त्र काव्यशास्त्रोंसे भिन्न ही हैं, एक ही शास्त्रके अथवा विषयके दो नाम नहीं हैं। आजकल भी व्यवहारमें यही दृष्टिगोचर होता है। विद्वान् महाशयोंसे यदि पूछा जाता है कि काव्य ग्रंथ कौनसे हैं? तो उनसे उत्तर प्राप्त होता है कि धर्मशर्म्माभ्युदय, यशस्तिलक, गद्यचिन्तामणि, शिशुपालवध, किरात आदि ग्रन्थ काव्यग्रंथ हैं। तथा उनसे यदि यह प्रश्न किया जाता है कि साहित्यग्रंथ कौनसे है? उस समय वे प्रथम ही तो कुछ सकुचाते हैं किंतु तदनंतर यही उत्तर देते हैं कि अलंकारचिंतामणि, वाग्भटालंकार, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश आदि साहित्यग्रंथ हैं। इसके सिवाय साहित्य शब्दसे प्रायः आजकल सुंदर शब्दरचनाको भी ग्रहण करते हैं। वह चाहे न्यायविषयक हो अथवा इतिहास आदि विषयक हो। अतएव संस्कृत भाषाके सिवाय अन्य प्रचलित भाषाओंमें साहित्यग्रन्थ अपरिमित हो गये हैं। हम संस्कृत साहित्य पर विचारनेके लिये अपना समय निर्दिष्ट करचुके हैं। अतएव इतर साहित्यका सारासार विचार नहीं करते हैं। अस्तु।

अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है और मूल सारांश भी यही है कि ", जिस शास्त्रमें गुण, दोष, रीति, रस, अलंकार आदिके लक्षण स्वरूप बतलाये गये हों वह साहित्यशास्त्र है तथा जो शास्त्र गुण, रीति, रस, अलंकार आदि शाब्दिक सौंदर्यसे निर्मित हुआ है वह काव्यशास्त्र " है।

अर्थात्—साहित्यशास्त्र व्यङ्ग्य है और काव्यशास्त्र व्यञ्जक है अथवा साहित्य-शास्त्र पथप्रदर्शक है तथा काव्यशास्त्र उसका उदाहरण है। सारांश यह है कि साहित्य-शास्त्र तथा काव्यशास्त्रमें भिन्नता अवश्य है। अस्तु। हमको प्रथम ही काव्यशास्त्रके विषयमें विवेचन करना है।

काव्यशास्त्रके मूल दो प्रकार हैं। एक तो श्रव्यकाव्य है और दूसरा दृश्य काव्य है। दृश्यकाव्य वह है जो देखनेसे उल्लासकारक होवे जैसे नाटक! अर्थात् नाटक दृष्टिपंथ होनेपर ही वास्तविक मनोहरताको उत्पन्न करता है अतएव वह दृश्यकाव्यरूप है। जिस रमणीय वाक्यावलीको सुनते ही मानसिक प्रफुल्लता जन्म लेवे वह श्रव्यकाव्य है उसके तीन भेद हैं। केवल पद्यात्मक, केवल गद्यात्मक तथा गद्यपद्यात्मक। इनमेंसे तृतीय प्रकारका काव्य चम्पू शब्दसे कहा जाता है। अस्तु। प्रथम ही पद्यात्मक जैनकाव्योंका महत्त्व हमको देखना चाहिये।

यद्यपि जैन कवियोंकी अनुपम कृतियां अगणित संख्यामें जन्म ले चुकी थीं किन्तु अनेक विध्वंसक कारणोंसे वे सभी अजर अमर न रह सकीं। जिस समय जैन-धर्मका शान्तिप्रद साम्राज्य सम्पूर्ण भारतवर्षमें जमा हुआ था उस समय जैनसाहित्यकी कुसुमितबल्लरी भारतवर्षके सर्व प्रदेशोंमें फैल गई थी।

और अपने सौरभशाली चित्तहारी पुष्पोंसे उन सभी प्रदेशोंमें सुरभि-शीतल पवनका संचार कर दिया था। जैन साहित्य उस समय पूर्ण यौवनको पा चुका था और परिपूर्ण उन्नत दशा भी जैन काव्योंकी उसी समय थी। यदि महासभाका अधिवेशन उस समय होता तो जैन काव्योंका वास्तविक पूर्ण महत्व उसमें प्रदर्शित कर दिया जाता। किंतु खेद ! दांतोंके समय चने प्राप्त न हो सके और चनोंके समय दंतपंक्ति न रही॥ किंतु कालचक्रानुसार जिस काल जैन साम्राज्य भारतवर्षसे विहार कर चुका जैन प्रासादके आधारभूत उद्भट विद्वत्तासे परिपूर्ण ऋषीश्वर दृश्यमान न रहे। उस समय जैन धर्मके सुन्दर उन्नत तरुवरको जड़मूलसे नष्ट करनेके लिये तथा अपना साम्राज्य जमानेके लिये शङ्कराचार्यजीने इस भारतभूमिमें पदार्पण किया। और जैन धर्मको भारतभूमिसे सर्वथा नष्ट करनेके लिये पूर्ण परिश्रम करने लगे। यह कहनेमें कुछ संकोच न होगा कि उन्होंने जैनधर्मके लिये वे वे अनुचित कार्य किये, जिनको सुनकर हृदय थर्रा जाता है और कहना पड़ता है कि शङ्कराचार्यके मानवीय शरीरमें मनुष्यता रंचमात्र नहीं थी। अन्यथा जैन शास्त्रोंको जलाकर उसकी अग्निसे पानी उष्ण करके, स्नान करके, भोजन करनेकी घृणापूर्ण प्रतिज्ञा न करते। सारांश यह है कि शङ्कराचार्यने जैन शास्त्रोंको जहां तक पाया जलाकर उनको भस्म कर दिया अथवा अगाध जलकी तलभूमिमें पहुंचा दिया। औरंगजेब बादशाहने भी यही अमानुषिक कार्य किया। जैन ग्रंथोंको छह मास तक होली-की तरह जलाया। उन ग्रन्थोंकी अग्निसे सेनाका भोजन तयार कराया। उन ग्रन्थोंसे भरी हुई अनेक नौकाएं जलमग्न कर दीं। जिससे कि जैन काव्योंका समुदाय प्रचंड दुष्ट-ताके कारण संसारसे विदा ले चुका। किन्तु "गंगाका प्रवाह चाहे जैसा क्षीण हो जाय किन्तु गीदड़ उसको पार नहीं कर सक्ते हैं" इस कहावतके अनुसार जैनकाव्यका भग्नावशिष्ट अंश भी अपूर्व तथा असाधारण विद्वत्ता तथा रमणीयतासे परिपूर्ण है कि इतर काव्यग्रन्थोंका मुख कालिमायुक्त कर देता है। अस्तु।

संस्कृत साहित्यकारोंमें महाकवि कालिदासको प्रायः सर्वोच्च पद प्रदान किया है। उनकी अनेक कवितायें विद्यमान हैं जो कि प्रायः शृङ्गार रससे भीनी हुई हैं। उन सभी काव्य-ग्रंथोंमें 'मेघदूत' नामक काव्य सर्वोत्तम है। इस ग्रंथमें एक विरही यक्षका मेघोंके द्वारा अपनी भार्याके लिये संदेश भेजनेका वर्णन किया है जो कि शृङ्गाररससे परिपूर्ण है किन्तु कालिदासकी रमणीय सर्वोच्च इस कविको तुच्छ कविता सिद्ध करनेवाले जैनकाव्य ही हैं।

कालिदास कवि जिस समय मेघदूत काव्यको लेकर अमोघवर्ष भूपतिके समीप अपनी महत्त्वशालिनी कविताका पारितोषक लेनेके लिये गये उस समय जिनसेन कवि उस राजसभामें विद्यमान थे, उन्होंने कालिदासके मानमर्दन करनेके लिये राजासे कहा यह कविता जैन काव्यसे निकाली हुई है। तदनंतर कालिदासने क्रोधित होकर कहा कि उस काव्यग्रन्थको दिखलाओ तो सही जिसमेंसे यह कविता चुराई गई है तब जिनसेनने कहा कि दूरवर्ती नगरमें वह ग्रंथ है उसे मैं आठ दिनमें लाकर दिखाता हूं। राजसभामें ऐसी प्रतिज्ञा करके वहांसे चले गये और आठ दिनमें पार्श्वाभ्युदय नामक ग्रंथ रचकरके सभामें लाकर दिखा दिया जिसके प्रत्येक श्लोकमें तीन पाद तथा दो पाद अपने बनाकर रक्खे और मेघदूतका एक तथा दो पाद मिला दिये। महत्व इतना बढ़ा दिया कि मेघदूत सरीखे शृङ्गाररसीय ग्रंथको वैराग्यरसमें परिणत कर दिया जिसके कारण कालिदासको महालज्जित होना पड़ा। जिनसेनाचार्य महाकविकी महत्वप्रदर्शिनी कृतिका प्रदर्शन इस लेखमें सर्वथा असम्भव है फिर भी विद्वानोंको संतुष्ट करनेके लिये हम उनकी कविताका एक ही श्लोक देते हैं जिससे साहित्यज्ञ पुरुषोंको ज्ञात हो जायगा कि जिनसेनाचार्य कैसे कवीश्वर थे।

कार्यालिङ्गात्स्वयमधिगतात्कारणस्यानुमानं।
रूढं येषां तदियमभिमा युक्तरूपेति मन्ये॥
त्वत्सान्निध्यं यदनुमिमते योषितः प्रोषितानां।
नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केशरैरर्द्धरूढैः॥

मेघदूतके इक्कीसवें श्लोकको सन्मुख रखकर यदि इस समस्यापूर्तिको देखा जाय तथा इस श्लोकके अर्थगांभीर्यको देखा जाय तो कालिदास कवि कवित्वमें जिनसेनाचार्यके शिष्यतुल्य सिद्ध हो जायंगे। अस्तु। पार्श्वाभ्युदय काव्य तो ऐसी कवितासे परिपूर्ण है ही किन्तु विक्रम कविकी समस्यापूर्तिका उदाहरण भी दे देना चाहिये जिसको देखकर यह पूर्णतया ज्ञात हो जायगा कि मेघदूत सरीखे काव्यग्रंथ जैनकाव्योंमें साधारण ग्रंथ हैं।

नोत्साहस्ते स्वपुरगमने चेद्वियुक्ता त्वयाहम्।
वृद्धावेतौ तव च पितरौ तज्जनास्ते त्रयोमी॥
म्लानास्याब्जाः कलुषतनवो ग्रीष्मतोयाशयाभाः।
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥

नेमिचरितके इस श्लोकको देखकर पंडित महोदय कविकी असाधारण महत्वशाली कवित्व चातुर्यका अनुमान कर लेंगे। कविने एक तो मेघदूतके पच्चीसवें श्लोकके

चतुर्थपादकी समस्या पूर्ण की है। दूसरे स्वाभाविक वर्णन भी कर दिया है। इसके अतिरिक्त यह विषय भी इसी श्लोकमें उन्हीं विशेषणोंसे बतला दिया है कि ग्रीष्मऋतुमें सरोवरोंकी क्या दशा हो जाती है? । इसके अतिरिक्त इसी छोटेसे काव्यग्रंथका अन्य दृष्टान्तोंसे भी महत्व दिखाना चाहते थे किन्तु अभी बहुत बड़ा मार्ग तय करना है अतः इस ग्रन्थको यहींपर छोड़ते हैं। मेघदूतका महत्त्व यद्यपि ये दोनों ग्रंथ नष्ट कर देते हैं तथापि मेघदूतका ठीक समवयस्क पवनदूत नामक जैनकाव्य भी विद्यमान है जो कि वादिचन्द्र कविकी महिमा दिखाता हुआ मेघदूतसे प्रथम कक्षामें सम्मिलित हो जाता है। अतएव कालिदासका यह कवित्व जैन कवियोंके सम्मुख तुच्छ है, सामान्यतया ही ज्ञात हो जाता है। अस्तु।

समस्यापूरणका एक सुन्दर उदाहरण और भी देना चाहिये अतएव रत्नसिंह कविने अपने प्राणप्रिय काव्यमें भक्तामरस्तोत्रके प्रत्येक श्लोकके चतुर्थपादकी समस्या पूरण किस खूबीके साथ की है यह केवल एक दृष्टान्तसे ही ज्ञात कराया जाता है।

एतन्मदीरितवचः कुरु नाथ! नो चेत्।
रोत्स्यत्यरं नरपतिः स्वयमुग्रसेनः॥
कुर्वन्तमुत्तमतपोऽपि भवन्तमेष।
'नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्॥

यह केवल उदाहरण दिया है किंतु इसका महत्व विद्वानोंको तभी ज्ञात होगा जब कि वे भक्तामर स्तोत्रका पांचवां श्लोक सामने रखकर इसको ध्यानपूर्वक देखें उस समय इस श्लोकसे हार्दिक प्रिय वह मनोहरता टपक जाती है जिससे संतप्त हृदय भी उल्लसित हो जाता है। अस्तु।

कालिदास महाकविके रघुवंश नामक महाकाव्य पर जिस समय दृष्टि देते हैं उस समय जैन काव्योंके सन्मुख उसका कुछ भी महत्व ध्यानमें नहीं आता है। दृष्टांत केवल एक ही श्लोकसे देंगे जिससे यह ज्ञात हो जायगा कि जैन काव्योंमें वाक्य-रचना कैसी मनोहर है जिसके सामने रघुवंशकी कविता निम्नश्रेणीमें स्वतः ठहर जाती है। रघुवंशके द्वितीय सर्गका प्रथम श्लोक निम्नलिखित है-

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगंधमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥

किन्तु चन्द्रप्रभचरितमें ऐसा ही श्लोक इस रूपमें दिया है-

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः।
वृद्धिं स पद्माकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः॥

इन दोनों श्लोकोंको सुनकर अशिक्षित मनुष्य भी बतला देगा कि द्वितीय श्लोक ही रमणीय है। ऐसा पदलालित्य सभी जैन काव्योंमें प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है जो कि रघुवंशमें खोजनेसे कहीं कहीं पर ही मिल सकेगा। अतएव जिन महाशयोंने यह निश्चय किया है कि "काव्योंमें रघुत्रयी सरीखे छोटे २ काव्य तथा वृहत्त्रयी सरीखे बड़े काव्य अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते हैं" वे महाशय यदि परीक्षक हैं तथा विद्वान् हैं तो सहर्ष अपना यह सिद्धांत छोड दें क्योंकि मेघदूत, रघुवंश तथा कुमारसंभवका जैन काव्योंके सन्मुख कितना महत्व है ? यह उपर्युक्त उदाहरणोंसे समझ गये होंगे। एवञ्च वृहत्त्रयीकी वास्तविक परीक्षा भी हम उन महाशयोंको करावेंगे उस समय उनको भलेप्रकार ज्ञात हो जायगा कि "जिन मनुष्योंने कभी पर्वत नहीं देखा है वे पुरुष ही ऊंटको सबसे उन्नत मानते हैं" इस कहावतके अनुसार जैन काव्योंका विना अवलोकन किये ही हम ऐसा मान बैठे हैं। अस्तु।

पाठक महाशयोंको हम वीरनंदि महाकविकी कविताका कुछ परिचय देंगे जिसको देखकर विज्ञ महोदय जैन तथा इतरीय काव्योंमें सारासार भाव स्वयं जान लेंगे।

यद्यपि उच्चकोटिके भी इतर काव्यग्रंथोंमें ग्रंथके प्रारम्भमें मंगलाचरण तो प्रायः किसी ग्रंथकारने नहीं किया है जिससे उन ग्रंथोंका मुख मलिन ही रह गया है परन्तु अन्य कई त्रुटियां भी उनमें विद्यमान हैं जिसके कारण उनका काव्य महत्व—पूर्णतासे वञ्चित रहगया है। उसका प्रदर्शन कराना आवश्यक समझकर यहां कहदेना उचित होगा।

वीरनंदि आचार्य विरचित चन्द्रप्रभचरितमें देशवर्णन ऐसा सुन्दर किया है कि नगरोंका तथा ग्रामोंका प्राकृतिक चित्र ही खींच दिया है। औदार्य समता आदि गुणोंके साथ साथ अनेक अलङ्कारोंसे अलङ्कृत वैसा वर्णन अन्यत्र काव्योंमें नहीं दीखता है। उदाहरणार्थ केवल श्लोक एक ही देते हैं—

मदेन योगो द्विरदेषु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता।
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुचेषु यस्मिन्करपीडनानि च॥

इस श्लोकमें कविने श्लेष मूल परिसंख्यालंकारके साथ साथ नगर वर्णनके सुन्दरसौन्दर्यको कैसा सुन्दर बना दिया है ऐसा नगरवर्णन किरातार्जुनीय तथा माघ काव्यमें ढूंढनेपर भी नहीं मिलता है। चन्द्रप्रभचरितमें जब कि राजाका वर्णन देखते हैं उस समय इस काव्यके मनोहरलालित्यका पता चल जाता है। इसका दृष्टान्त भी दिये देते हैं।

धराश्रयः संततभूतिसंगमः शशाङ्ककान्तो धृतनागनायकः।
अधोभवद्गोपतिरीश्वरोऽपि सन्यभूत यो नासमदृष्टिदूषितः॥

इस श्लोकमें कविने राजाका वर्णन इस कौशलके साथ किया है कि श्लोकमें उन्हीं शब्दोंसे महादेवका स्वरूप भी प्रकट हो जाता है। राजाका ऐसा चमत्कारी वर्णन हमको किरातमें तथा माघमें नहीं उपलब्ध होता है जो कि महाकाव्योंमें अवश्य चाहिये। जब कि चंद्रप्रभचरितमें वैराग्यरसको देखते हैं उस समय इस काव्यके सौन्दर्यको हठात् उत्तम कहना पड़ता है। यह तो केवल प्रथमसर्गमें ही महत्व भरा हुआ है किंतु जिस समय द्वितीयसर्ग देखते हैं उस समय कविके अपूर्व पांडित्यका अनुमान हो जाता है। अन्य कवियोंके समान जैन कवि केवल कवि ही न थे किंतु दर्शनिक विद्वत्ता भी उनमें परिपूर्णतया परिपूर्ण थी यह दर्पणवत झलक जाता है। इस सर्गमें चार्वाक, सांख्य आदि मतोंका खंडन बड़े लालित्यसे संक्षेपमें कर दिया है। माघ किरात तथा नैषधको देखकर यह अनुमान कहना पड़ेगा कि जैन कवियोंके समान वे कवीश्वर दार्शनिक नहीं थे किंतु केवल कवि ही थे। चंद्रप्रभ काव्यके तृतीय सर्गमें रानीकी शोकावस्था अपूर्व रम्यतासे वर्णन की है। साथ ही राजाका वर्णन भी बड़े पांडित्यके साथ किया है इसका भी केवल दो श्लोकोंसे दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है-

भेजे नितान्तमजलोऽपि नदीनभावं, यश्चाभवद्गुरुतरो तिलकोऽप्यशोकः।
दोषाकरश्च न बभूव कलाधरोऽपि, सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम्॥
भानुर्भवेद्यदि मनागिह सौम्यरूप-स्तेजाश्रिताभ्युपगतो मृगलाञ्छनो वा।
धामाधिको विदधदेष जनानुरागं, तेनोपमानपदवीं प्रभुरुद्वहेत॥

यहां पूर्व श्लोकमें विरोधाभास अलङ्कार तथा द्वितीय श्लोकमें उत्प्रेक्षालंकार अपूर्व लालित्यसे दिखलाया है। इस काव्यके प्रत्येक वर्णन विषयका महत्त्व बतलानेमें लेखक सर्वथा असमर्थ है। अतएव मुख्य मुख्य विषयोंकी महत्ता ही प्रगट हो सकेगी।

इस काव्यके अष्टम सर्गमें वसन्तऋतुका वर्णन उस वैदुष्य शैलीसे किया है जिसकी खूबीको किरात माघ किसी स्थलमें भी नहीं पासके हैं। यमकालंकार इस सर्गमें बड़े पाण्डित्यके साथ रक्खा गया है। यद्यपि इसका प्रदर्शन कराना भी आवश्यक था किन्तु समयानुसार ऐसा करनेसे रुकना पड़ता है। अस्तु। बारहवें सर्गमें मन्त्रविचार भी अनुपम है तथैव तेरहवें सर्गमें जैलयात्राका वर्णन ऐसा अपूर्व, अनुपम किया है जैसा कि किरात तथा माघकाव्यमें कहीं भी नहीं मिलता है। इसके सोलहवें तथा सत्रहवें सर्गमें अनेक प्रकारके अनेक वर्णन संक्षिप्त रूपमें ऐसे असाधारण सौन्दर्यमें रंगकर दिखला दिये हैं जिनका महत्त्व अवक्तव्य नयमें सम्मिलित हो जाता है। उनको अवलोकन करनेवाला पुरुष ही उनकी महत्ता ज्ञात कर सकता है। अस्तु।

अन्तमें कविने अठारहवें सर्गमें जैन सिद्धांतका संक्षिप्त रूपमें असाधारण रीतिसे वर्णन किया है। इस प्रकार निर्णीयसिद्धान्त कथन नैषध, माघ आदि किसी काव्यमें विद्यमान नहीं है। इस प्रकार वीरनंदि कविवरकी उदार कविता साहित्यक अनेक विषयोंमें किरात, माघ आदि अन्य काव्यग्रन्थोंको अनेक स्थलोंपर टकरा देती है।

अब हम कविसम्राट् हरिचन्द्रकी कविताका संक्षिप्त परिचय देते हैं जिसको देखकर विज्ञमण्डल नैषध आदि उच्चतम काव्यग्रन्थोंसे मिलान करके कह देंगे कि संसार भरके संस्कृत काव्य ग्रंथ जैन काव्योंसे निम्न श्रेणीमें ही हैं। संस्कृत कवियोंकी प्रशंसा इतर जनतामें इस प्रकार मिलती है—

नैषधे पदलालित्यं भारवेरर्थगौरवम्।
उपमाकालिदासस्य माघे संति त्रयो गुणाः॥
नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।

अर्थात् नैषध काव्यमें लालित्य सब काव्योंसे बढ़कर है, किरातार्जुनीयमें अर्थगुरुता सर्वोत्तम है और कालिदासीय काव्योंमें उपमालंकार सब काव्योंसे बढ़िया विद्यमान है किन्तु माघकाव्यमें तीनों गुण विद्यमान हैं। यदि माघकाव्यको विद्यार्थी नौ सर्ग तक पढ़ले तो उसके लिये संसारमें कोई भी संस्कृत शब्द अपरिचित नहीं रहता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा कहनेवाले महाशयने या तो जैनकाव्योंके सर्वथा दर्शन ही नहीं किये हैं। अथवा 'मियां चिआं न.स पहाड़खां' इस कहावतके अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कारसे अपनी वाणीको सुशोभित कर गये हैं अन्यथा ऐसा कदापि नहीं कह सक्ते थे। अस्तु।

हम कवीश्वर हरिचन्द्र रचित धर्मशर्माभ्युदयसे ही सर्व संस्कृत काव्योंका मिलान करके यथायोग्य जैन तथा अजैन काव्योंको पदवी प्रदान करते हैं।

धर्मशर्माभ्युदय काव्यका यद्यपि प्रत्येक वाक्य अपूर्व लालित्य, अनुपम सौन्दर्य, तथा गुण, रस अलङ्कारोंसे अलङ्कृत है जिनको पढ़ने मात्रसे हृदय प्रफुल्लित हो जाता है किन्तु उस सभी कविताको हम किसी तरह पाठकोंके सन्मुख नहीं रख सके हैं किन्तु उदाहरणके लिये हम कुछ पद्योंका प्रदर्शन करावेंगे।

हरिचन्द्र कवि साम्राट्ने प्रारम्भमें सज्जन दुर्जनका वर्णन ऐसे उत्तम ढंगसे किया है कि जिसको देखकर चित्त चकित होजाता है। उदाहरणके लिये केवल एक श्लोक ही देते हैं—

गुणानधस्तान्नयतोऽप्यसाधुपद्मस्य यावद्दिनमस्ति लक्ष्मीः।
दिनावसाने तु भवेद्गतश्री राज्ञः सभासंनिभिमुद्रितास्यः॥

इस श्लोकमें कविने वह वर्णन कर दिया है जो कि अन्यत्र न मिल सकेगा। दुर्जनका स्वभाव बतलाते हुए कमलका दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार कमल अपनी नालीको नीचे रखता है और केवल दिनमें ही सुशोभित अर्थात् विकसित रहता है किंतु चंद्रोदयके समय वही कमल मुकुलित होजाता है तथैव अन्य पुरुषोंसे गुणोंकी अवज्ञा करनेवाला दुर्जन तभी तक प्रसन्न रह सक्ता है जबतक कि उसके शुभदिन हैं किंतु उन दिनोंके व्यतीत हो जानेपर उसका सारा गर्व खर्व होजाता है और राजसभामें म्लानमुख होकर उपस्थित होना पड़ता है। अब यहांपर विचार करनेसे इतना फल अवश्य निकल आवेगा कि भारवि कविकी कवितामें यह अर्थ गौरव नहीं मिलता है और कालिदासके काव्योंमें ऐसी उपमा भी प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होती है तथैव माघकाव्य भी ऐसे शाब्दिक तथा आर्थिक लालित्यसे शून्य ही है।

राजाके प्रतापका वर्णन करते हुए हरिचंद्रने कहा है—

"निपीतमातङ्गघटाग्रशोणिता हठावगूढा सुरतार्थिभिर्भटैः।
किल प्रतापानलमासदत्समित्समृद्धमस्यासिलतात्मशुद्धये॥"

अर्थात्—मैथुनकी अभिलाषासे चाण्डाल पुरुषोंने किसी कुलवती स्त्रीका यदि बलपूर्वक आलिङ्गन करके ओष्ठपान कर लिया हो। तब वह कुलाङ्गना अपनी पवित्रताके लिये अग्निमें प्रवेश करती है। यह अर्थ ध्वनिसे इस श्लोकमें निकलता है। प्रकृतार्थ ऐसा है कि "युद्धमें जिसके खड्गने हाथीसमूहका रक्तपान किया है और देवत्व पद पानेकी इच्छासे शत्रुसैनिकोंने बलपूर्वक जिसकी तलवारका आलिंगन किया है ऐसे खड्गने अपनी शुद्धताके लिये इस महीपतिकी प्रतापरूपी अग्निका आश्रय लिया है।"

ऐसी अनुपम रचना जैन काव्योंमें ही उपलब्ध होती है कि उपमेय पदार्थ उपमानके समान हो जावे तथैव उपमानपदार्थ उपमेय सरीखा भी लग जावे। और उपमा भी अपूर्व कौशलके साथ; पूर्ण उपमा। इसके अतिरिक्त एक खूबीका अनुमान इसी श्लोकसे होता है कि बिन्दुच्युतक, व्यञ्जनच्युतकादिके समान 'अक्षर विपर्यास, भी कोई अलंकार है। क्योंकि यहां ध्वनिसे किसी कुलीन नायिकाका चरित्र निकलता है उस समय कर्ता 'असिलता'के स्थानपर 'अलसिता' निकलता है। अस्तु।

किरातका अर्थगौरव और कालिदासकी उपमा तथा माघकाव्यके तीनों गुण यहां भी टकराकर पराभूत हो जाते हैं।

सुव्रता रानीके कृशोदरत्व वर्णनको अनन्य लालित्यसे कहा है—

"सुहृत्तमावेकत उन्नतौ स्तनौ गुरुर्नितम्बोऽप्ययमन्यतः स्थितः।
कथं भजे कान्तिमितीव चिन्तया तताम तन्मध्यमतीव तानवम्॥"

इस श्लोकमें कविके उत्प्रेक्षा तथा हेतु अलंकारको देखकर और—

अनादरेणापि सुधासहोदरीमुदीरयन्त्यामविकारिणीं गिरम् ।
ह्रियेव काष्ठत्वमियाय वल्लकी पिकी च कृष्णत्वमधारयत्तराम् ॥

इस श्लोकमें कविके पदलालित्यके साथ साथ अनुपम सौन्दर्य सहचारी उत्प्रेक्षालङ्कारपर ज्ञानचक्षु लगानेपर कालिदास, श्रीहर्ष, माघ आदि कवियोंकी कृतियोंपर पानी फिर जाता है ।

भगवानका स्तवन किस विलक्षण उल्लासदायिनी शैलीसे किया है कि हृदय प्रसन्नतामें मग्न होजाता है । दृष्टान्तके लिये केवल एक श्लोक ही बहुत है—

" युग्मत्पदप्रयोगेण पुरुषः स्याद्यदुत्तमः ।
अर्थोऽर्थं सर्वथा नाथ ! लक्षणस्याप्यगोचरः ॥ "

ऐसा महत्त्वशाली श्लोक हमको नैषध, माघ आदिमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है । विशेष प्रशंसा क्या की जाय ।

न्यायके वक्र कठिन अनुमानोंको भी कविने किस सरलताके साथ पद्यमें रख दिया है जिससे ज्ञात होजाता है कि कवीश्वर नैयायिकेश्वर भी थे, केवल कविराज ही न थे । दृष्टान्त यही है—

" जीवः स्वसंवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात् ।
काये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टेः स्व इवानुमेयः ॥"

नैषध, माघको प्रारम्भसे अन्ततक देखनेपर ऐसी दर्शनिक कविता न मिल सकेगी।

राजपरिषदमें उतरती हुई देवाङ्गनाओंका किस अपूर्व पाण्डित्यसे कैसा ललित वर्णन किया है इसकी उपमाके लिये हमको माघ, नैषध आदि किसी भी काव्यमें दृष्टांत नहीं मिलता है । आकाशसे उतरने वाले पुरुषका रूप किस २ हालतमें कैसा कैसा होगा यह स्पष्ट चित्र धर्मशर्माभ्युदय काव्यमें ही मिल सकेगा । माघकाव्यमें ऐसा वर्णन केवल साधारण दो पद्योंमें किया है जिससे कि इस विषयमें चन्द्रप्रभचरितको भी माघकाव्यसे उच्च स्थान देना पड़ेगा । अब विज्ञपाठक समझ जायंगे कि 'माघे संति त्रयो गुणाः,अथवा धर्मे सन्ति त्रयो गुणाः । दृष्टांतके लिये केवल एक श्लोक देते हैं—

"स्वानुभावधृतिभूरिमूर्तिना पद्मरागमणिनूपुरच्छलात् ।
भानुना क्षणमिह प्रतीक्ष्यतामित्युपात्तचरणाः स मन्मथम् ॥"

सप्तमसर्गमें देवोंका जिन भगवानको सुमेरु पर्वतपर अभिषेकके लिये ले जाते समय यात्राका वर्णन बड़ी सुंदरतासे किया है, माघकाव्य इस महत्वसे भी वञ्चित है । अष्टमसर्गमें जिनेन्द्रदेवका इन्द्रद्वारा किया हुआ स्तवन उस पाण्डित्यके साथ लिखा है

जिसको देखकरके माघकाव्यकी दृष्टि भूमिकी ओर झुक जाती है तथा नैषध पश्चात् पद हो जाता है। दृष्टांतके लिये केवल दो श्लोक देते हैं—

अखिलमलिनपक्षं पूर्वपक्षे निधाय
प्रथमसुदितमात्रस्यापि संपूर्णमूर्तेः।
जिनवर तव कान्त्या यत्कलामात्रशेषः
प्रतिपदमृतभानुः स्पर्द्धते तन्मुधैव ॥
अमितगुणगणानां त्वद्गतानां प्रमाणं
भवति समधिगन्तुं यस्य कस्यापि वाञ्छा।
प्रथममपि स तावद्व्योम कत्यङ्गुलानी
त्यनघ! सुगमसंख्याभ्यासमङ्गीकरोतु ॥

इस अनुपम विद्वताका स्तवन धर्मशर्माभ्युदयके अतिरिक्त हजारों प्रयत्न करने पर भी अन्यत्र न मिल सकेगा।

जिस समय दशवां सर्ग इस काव्यका दृष्टिगोचर होता है उस समय हरिचंद्र कवि अपूर्व विद्वान् कवि थे यह स्वतः मुखसे निकल पड़ता है। इस सर्गमें कविने पर्वतका वर्णन किया है जो कि अर्थालंकार सहित शब्दालंकारसे परिपूर्ण है। दृष्टांतके लिये कुछ पद्योंका अवलोकन कराते हैं—

"स्रष्टा दधात्येव महानदीनां महानदीनां शिखरोन्नतिं यः।
स्वर्गादिहागत्य सदानभोगैः सदा नभोगैरनुगम्यमानाम् ॥"

इस श्लोकमें मध्ययमकालंकार बड़े लालित्यके साथ दिया है। और भी दो तीन उदाहरण उपस्थित करते हैं जो कि हरिचंद्रके कविसाम्राज्यको सिद्ध कर देंगे—

"नवो धनी यो मदनाधको भवेन्न बोधनीयो मदनाय को भवे।
स सुभ्रुवामत्र तु नेत्रविभ्रमैर्विबोध्यते सत्तिलकोऽपि कानने ॥"

इस पद्यमें यद्यपि आदि मध्यगोचर यमकालङ्कार दिया है किन्तु अर्थालङ्कार भी अपूर्व सौन्दर्यके साथ रख दिया है। ध्वनि भी चित्तरोचक निकलती है, अर्थ भी मनोहारी है कि "जो नवीन धनिक होता है वही मदमत्त होता है। इस संसारमें कामवासनाके विषयमें किसको समझाना चाहिये ? अर्थात् किसीको भी नहीं। क्योंकि वनमें रहनेवाला तिलकवृक्ष भी स्त्रियोंके कटाक्षोंसे ही कुसुमित होता है। ऐसा अर्थलालित्य तथा पदलालित्य प्रयत्नकरनेपर भी अन्यत्र नहीं मिल सकेगा ॥

"वनेऽत्र पाकोल्वणदाडिमीफलप्रकाशमाकाशमणिं नवोदितम्।
जिघृक्षवोऽमी निपतन्ति वानरा अनूरुदण्डाग्रनिवारिता अपि ॥"

इस पद्यमें स्वाभाविक क्रिया बड़ी सुन्दरतासे प्रकट की है। "प्रातःकालीन बाल-सूर्यको अनार समझकर बन्दर उसे लेनेके लिये उछलते हैं किन्तु अनूरु (सूर्यके रथका सारथी)के चाबुक ताडनासे गिर पड़ते हैं, परन्तु फिर भी सूर्यको पकड़नेके लिये उछलते हैं" यह तो इस श्लोकका अर्थ हुआ। अब प्राकृतिक विषय देखिये। प्रभात समय होते ही सूर्योदयके अनंतर बन्दर वृक्षोंपर स्वभावसे ही उछलते कूदते हैं। यह विषय ही कविने कैसी विचित्र उत्प्रेक्षाके साथ दिखलाया है। इसके अतिरिक्त ध्वनिसे यह भी प्रकट कर दिया है कि लोभी पुरुष पर चाहे कितनी भी ताडना की जाय किंतु वह अपनी लोभ प्रकृति नहीं छोड़ता है। ऐसी अनुपम उत्प्रेक्षा ऐसा असाधारण अर्थ-गाम्भीर्य तथैव ऐसा मनोहर सौन्दर्य श्रीहर्ष, माघ, भारवि, कालिदास कविके किसी काव्यग्रंथमें नहीं मिलता है॥ अस्तु॥

"दूरेण दावानलशङ्कया मृगास्त्यजन्ति शोणोपलसंचयद्युतीः।
इहोच्छलच्छोणितनिर्झराशया लिहन्ति च प्रीतिजुषः क्षणं शिवाः"

इस पद्यमें पर्वतीय गैरिक पत्थरका कैसे आश्चर्यकारी सुंदर ढंगसे वर्णन किया है। लिखते हैं कि "हरिण गैरिक धातुकी लालकांतिको दूरसे देखकर दावाग्निकी शङ्कासे उनका समीपता छोड़ देते हैं और गीदड़ रक्तका निर्झरना समझकर उसको बड़े प्रेमसे चाटते हैं"। यदि किसी पदार्थका वर्णन करना हो तो इस खूबीके साथ करना चाहिये। इस विषयका उपदेश अन्य कवियोंको हरिचन्द्रने इस पद्यसे दिया है। गैरिक धातुको देखकर हरिणोंको अग्निकी शंका तथा गीदड़ोंको लोहूकी हो जाती है। यही यथार्थ काव्य रचनाकी शैली है, भ्रान्तिमान अलङ्कारका ऐसा सुंदर उदाहरण इतर काव्योंसे उपलब्ध नहीं होता है।

"कृतार्थीकृतार्थीहितं त्वा हितत्वात्सदानं सदानन्दिनं वादिनं वा।
विभालम्बिभालं सुधर्मा सुधर्मापितंख्यापितख्याति सा नौति सनौ"

यमकालंकारका ऐसा सुंदर प्रफुल्लताकारी दृष्टांत अन्य काव्योंमें उपलब्ध न हो सकेगा ऐसे दृष्टांत केवल जैन काव्योंमें ही मिलेंगे। अब पाठक महाशय स्वयं समझ जायंगे कि त्रयो गुणाः इस काव्यमें हैं या माघमें हैं। यद्यपि माघ काव्यका चतुर्थ सर्ग भी पर्वतके वर्णनसे रंगा हुआ है और उसमें भी शब्दालंकार और अर्थालंकार भर दिये हैं, किंतु धर्मशर्माभ्युदयके दशवें सर्गके सामने वह बहुत ही तुच्छ वर्णन है। इस सरीखी सौंदर्य छटाका वहां दर्शन नहीं होता है। नैषेध भी इस वर्णन सौंदर्यसे रिक्त है। अस्तु।

नैषेध काव्यको सब काव्योंमें उच्च स्थान देनेका यह हेतु दिया गया है कि "इसका पदलालित्य सबसे उत्तम है, श्लेषालंकारकी अधिकता है। विशेषतया स्वयम्बरका

वर्णन चार सर्गमें बड़े विस्तारसे किया है"। काव्यशास्त्रकी उत्तमता विस्तृत वर्णनसे नहीं है किंतु उसके शब्द अर्थलालित्यसे ही है यह विज्ञमंडलको ज्ञात ही है।

स्वयम्वरका वर्णन धर्मशर्माभ्युदयके सत्रहवें सर्गमें अनुपम सौंदर्यसे किया है जिसको देखकर कहना पड़ेगा कि इस विषयमें नैषध भी धर्मशर्माभ्युदयसे टकरा गया है। उदाहरणार्थ तीन चार श्लोक प्रकट किये जाते हैं—

पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावलीशालिनि संप्रवृत्ते।
सा राजहंसीव विशुद्धपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश॥

इस पद्यमें कविने श्लेष मूल उपमालंकारसे राजकुमारीका सौंदर्य कैसी उत्तमतासे वर्णन किया है। उन्हीं शब्दोंमें राजकुमारीका पूर्णतया वर्णन है तथैव उन्हीं शब्दोंमें हंसीका वर्णन भी परिपूर्ण रीतिसे कर दिया है। नैषधमें इस तुलनाका कोई पद्य नहीं मिलता है।

यद्वर्ण्यते निर्वृतिधाम धन्यैर्ध्रुवं तदस्याः स्तनयुग्ममेव।
नो चेत्कुतस्त्यक्तकलङ्कपङ्का युक्ता गुणैरत्र वसन्ति मुक्ताः॥

इस श्लोकमें कविने राजकुमारीका सौंदर्य वर्णनके लिये हेतुमान, उत्प्रेक्षालंकारकी शोभनीय रचनासे कमाल कर दिखाया है। नैषधमें इसके लिये हमको निराश होना पड़ेगा। नैषधकी रचनाको निम्नश्रेणीमें परिगणित करानेवाला एक श्लोक इस प्रकार है—

कर्णाटलाटद्रविडान्ध्रमुख्यैर्महीधरैः कैरपि नोपरुद्धा।
रसावहा प्रौढनदीव सम्यग्रत्नाकरं धर्ममथ प्रपेदे॥

इस पद्यका वर्णन सर्वथा अनुपम है। नदीकी उपमा किस उत्तम ढंगके साथ दी है जिस अनन्यकुशलताको श्रीहर्षने स्पर्श भी नहीं किया है। नैषधमें इसीका सहचर श्लोक ऐसा है—

"कल्पद्रुमान्परिमला इव भृङ्गमालामात्माश्रयामखिलनन्दनशाखि-
वृन्दात्।
तां राजकादपगमय्य विमानधुर्या निन्युर्नलाकृतिधरानथ पञ्चवीरान्॥"

यह नैषधका पद्य है किंतु हरिचंद्र कविके पद्यमें तथा इसमें सौन्दर्यका अन्तर आकाश पातालका है। समान प्रकरणको अपने २ कौशलसे इतना अंतर पड़ गया है। इसका परीक्षाफल यही होगा कि धर्मशर्माभ्युदय प्रथम श्रेणीमें रक्खा जाय और नैषध काव्य तृतीय श्रेणीमें भर्ती किया जावे—

"यच्चक्षुरस्याः श्रुतिलङ्घनोत्कं यद्दृष्टि च भ्रूः स्थितजातरन्मम्।
अङ्कलया दक्षुगतस्य हन्ति पदक्रमो यच्च जडद्विजानाम्॥

प्रजापतिश्रीपतिशाक्यतीनां ततः समुद्यद्वृषलाञ्छनानाम् ।
मुक्त्वा परेषामिह दर्शनानि सर्वाङ्गरक्तेयमभूज्जिनेन्द्रे ।

इन दो पद्योंमें कविने वैदिक, स्मृतीय, सौगत, वैदिक विशेष, मीमांसक धर्मोंकी तथा वैष्णव शंकर चार्वाक धर्मोंकी एवं ब्रह्माद्वैतकी अवधीरणा और जैनधर्मकी उन्नतावस्था वर्णित की है । और मूलमें राजकुमारीका स्वयं वरण दिखलाया है । इसका सादृश्य रखनेवाली श्रीहर्ष आदि किसी कविकी भी कविता नहीं है, विशेष प्रशंसा व्यर्थ है । ऋतुवर्णन इस ग्रंथमें ऐसा किया है कि वह गंभीर लालित्य किसी भी काव्यमें नहीं मिलता है ।

ग्रीष्म ऋतुका वर्णन कैसा किया है ? इसका दृष्टान्त यह है ।

इह तृषातुरमर्थिनमागतं विगलिताशमवेक्ष्य मुहुर्मुहुः ।
हृदयभूस्त्रपयेव भिदां गता गतरसा तरसा सरसी शुचौ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस अनुपम उत्प्रेक्षालंकारसे कवीश्वरने कविसंसारको नीचा नंबर दे दिया है । इस श्लोकको देखकर माघ तथा नैषधका स्वयमेव इसके सन्मुख शिर झुक जाता है । विशेष महत्व जैनकाव्योंका और क्या होगा ? वर्षाऋतुके वर्णनमें कविने अपना असाधारण पाण्डित्य रख दिया है—दृष्टान्त इतना ही अधिक है—

स्वयमनम्बुजमेव सरोऽभवद्व्यधित सा तु वनान्तमपल्लवम् ।
यदि तया मृतयैव सुखं स्वलन्निनदया न दयास्ति वनेऽपि ते ॥

इस पद्यमें कविने वर्षाऋतुका वर्णन असाधारण चातुर्यसे किया है । नायिकाकी अवस्था दिखलाई है किन्तु उसी वर्णनमें वर्षाऋतु भी दिखला दी है ।

उन्नीसवें सर्गमें अनुपम शब्दालंकार भर दिये हैं जिससे कि युद्धका वर्णन अनन्य सुन्दरतासे रंग गया है इसी सर्गमें षोडशदलकमल नामक चित्रालङ्कार भी है जो कि माघ आदि काव्योंमें मिलता ही नहीं है । इक्कीसवां सर्ग धार्मिक उपदेशसे तथा जैनसिद्धांतसे परिपूर्ण है जो कि अजैनकाव्योंमें कहीं भी नहीं मिलेगा । अस्तु । हरिचंद्रकविकी इस कविताका सादृश्य रखनेवाली संसारभरमें संस्कृत काव्यकी कोई भी पुस्तक नहीं है यह निष्पक्ष यथार्थ तारीफ है अतिशयोक्ति नहीं है । नैषधकाव्य केवल टीकाके सबब महत्व पारहा है । धर्मशर्माभ्युदयकी हरिचन्द्र कवीश्वर द्वारा यदि स्वोपज्ञ टीका होती तो सुवर्णमें सौरभ निश्चयेन मिल जाता । अस्तु ।

जैन काव्योंमें वादीभसिंहाचार्यका बनाया हुआ क्षत्रचूडामणि नामक छोटा ग्रंथ है । जो कि अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा नीतिसे परिपूर्ण है । प्रत्येक श्लोकके अर्द्धभागमें कथाकी रचनाकी रचना की है तथा अपर भागमें अर्थान्तरन्याससे नीति प्रकट की है यह ग्रंथ विद्यार्थिओंके लिये महोपयोगी है । ऐसा ग्रंथ अजैन काव्योंमें कोई भी नहीं है ।

दृष्टान्तके लिये दो पद्य देते हैं—

विषयासंगदोषोऽयं त्वयैव विषयीकृतः ।
साम्प्रतं वा विषप्रख्ये मुञ्चात्मन् विषये स्पृहाम् ॥
किं नु कर्तुं त्वयारब्धं किं वा क्रियतेऽधुना ।
आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुह्यसि ॥

इन दो श्लोकोंका कैसा मनोहर भाव है । आत्मसंबोधन किस उत्तम रीतिसे किया है । इस ग्रंथका प्रत्येक पद चित्ताकर्षक, तथा रमणीय है जिससे कहना पड़ेगा कि अजैन काव्योंमें ऐसा भाव कहीं भी नहीं मिलता है । मानसिक प्रेरणासे एक पद्य और भी दिखलाते हैं:—

जीवानां पापवैचित्रीं श्रुतवन्तः श्रुतौ पुरा ।
पश्यथुरधुनेतीव श्रीकल्पाभूदकिञ्चना ॥

विजया रानीकी दरिद्रता पूर्ण दशाको देखकर नगरवासी जनोंकी उपर्युक्त उक्ति कैसी मनोहर है ? । सुनते ही संतप्त चित्त शीतल हो जाता है । अस्तु ।

धनञ्जय कवि विरचित एक द्विसंधान नामक काव्य है । कहना पड़ेगा जैन काव्योंके सिवाय ऐसा काव्य ग्रन्थ कहीं भी नहीं है । कविका अपूर्व पाण्डित्यका यह अनुपम उदाहरण है । इस ग्रन्थमें रामायणको तथा महाभारतको पूर्ण किया है । प्रत्येक श्लोकके दो २ अर्थ निकलते हैं । एक अर्थमें रामायण और दूसरे अर्थसे महाभारत निकलता है । प्रकरण भी बराबर मिलता चला गया है । इस प्रकार एक ही ग्रन्थसे दोनों कथाएं समाप्त कर दी हैं । उदाहरणके लिये भूमिकाका एक श्लोक देते हैं—

कवेरपार्थामधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती ।
तनोति सालङ्कृतिलक्ष्मणान्विता सतां मुदं दाशरथेर्यथा तनुः ।

इस श्लोकके तीन अर्थ निकलते हैं । एक अर्थ कविकी कविताका आलोचनारूप है । दूसरा रामायणके पक्षका है । तृतीय अर्थ महाभारतके पक्षका है केवल इसी पद्यको देखकर कविकी अपूर्व विद्वत्ताका पता लग जाता है । अस्तु । समयकी संकुचतासे विशेष परिचय देनेमें असमर्थ हैं । सार यही है कि इस ग्रंथ सरीखा अजैन ग्रंथ कोई भी नहीं है । इसके अतिरिक्त अलौकिक विद्वत्ताके प्रदर्शक चतुःसंधान, सप्तसंधान, चतुर्विंशतिसंधान ये तीन जैनकाव्य भी विद्यमान हैं । जिनके क्रमसे चार, सात तथा चौबीस अर्थ प्रत्येक श्लोकसे निकलते हैं । ये ग्रन्थ सटीक विद्यमान हैं । पांच छह अर्थ समझने पर ही विद्वानोंका मस्तक थक जाता है आगे नहीं चल सके हैं । ऐसे ग्रंथ पृथ्वी मंडल पर अन्यत्र किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सके हैं । अस्तु ।

अब हम जैन चम्पू ग्रन्थोंका महत्व प्रदर्शन करते हैं। पूर्वोक्त हरिचंद्र कवीश्वर रचित जीवन्धरचम्पू नामक एक अनुपम सौन्दर्यशाली चम्पूग्रंथ है। इस काव्यका गद्य जिस प्रकार मनोहारी है तथैव पद्य रचना भी महाहृदयरोचक है। जिस प्रकार शब्दालंकारसे इसका शरीर परिपुष्ट है तथैव रमणीय अर्थालंकारोंसे भी यह अनन्य कान्तिशाली है। इसकी सुंदरता बतलानेके लिये हम दो एक दृष्टांत देते हैं। जीवन्धरचम्पूके प्रथमसर्गमें सत्यन्धर नृपतिका वर्णन करते हुए शत्रुराजाओंकी स्त्रियोंकी दुरवस्था प्रदर्शक एक गद्य अत्युत्तम है।

"इति राजविरोधिनामरण्यमपि न शरण्यम्" यह वाक्य उस गद्यका अंतिम वाक्य है। इस गद्यमें वनमें इधरउधर भागनेवाली शत्रुरानियोंकी दुर्दशा भ्रांतिमान अलङ्कारके साथ साथ असाधारण पाण्डित्य तथा कवित्वसे परिपूर्ण प्रदर्शित की है। कहना पड़ेगा कि ऐसा उत्तम, हृदयरोचक गद्य अन्यचम्पू ग्रंथोंमें तथा गद्य ग्रंथोंमें उपलब्ध नहीं हो सकेगा॥ विजयारानीका शारीरिक सौन्दर्य निम्नलिखित पद्यमें किस उत्तम रीतिसे किया है—

अस्याः पादयुगं गलश्च वदनं किञ्चाञ्जसाम्यं दधौ।
"कान्तिः पाणियुगं दृशौ च विदधुः पद्माधिकोल्लासताम्।
वेणी मन्दगतिः कुचौ च बत हा सन्नागसंकाशताम्।
स्त्रीचक्षुः सुदृशोऽङ्गसौष्ठवकला दूरे गिरां राजते॥"

श्लेषमूल उपमालङ्कारका ऐसा मनोहर यह दृश्य है कि अजैनकाव्य इस ढंगसे शून्य पड़े हुए हैं। वैसे तो इस चम्पूका प्रत्येक वाक्य विचित्र सौन्दर्यशाली है किंतु दृष्टान्तके लिये दो पद्य और भी देता हूं—

मदीयहृदयाभिधं मदनकाण्डकाण्डोधितं
नवं कुसुमकन्दुकं वनतटे त्वया चोरितम्॥
विमोहकलितोत्पलं रुचिररागसत्पल्लवं।
तदद्य हि वितीर्यतां विजितकामरूपोज्वलः।

यह सुरमञ्जरीने जीवन्धर कुमारके समीपमें पत्र भेजा था जिसके उत्तरमें जीवन्धरका यह उत्तर है—

मम नयनमराली प्राप्य ते वक्त्रपद्मं।
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य हृष्टा॥
विहरति रसपूर्णे नाभिकासारमध्ये।
यदि भवति वितीर्णा सा त्वया तं ददामि॥

नायक, नायिकाके हृदयरोचक अनुपम सौन्दर्य परिपूर्ण ऐसे पत्र, तथा उत्तर अन्य काव्योंमें नहीं मिलते हैं। इस चम्पूकी विशेष प्रशंसा व्यर्थ होगी। इस ग्रंथमें सर्व श्रेष्ठ महत्त्व इस प्रकार है कि अजैन गद्य ग्रन्थोंमें 'वासवदत्ता, नामक एक ग्रंथ है, इसको गद्यशिरोमणि पदवी मिली है। इस ग्रंथमें कविने जीवन्धरचम्पूका अनेक स्थलोंका गद्य हूबहू उठाकर अपने ग्रंथमें रख लिया है। अजैन गद्य काव्योंका शिरोमणि ग्रन्थ जिस ग्रन्थके अपहृत अल्प अंशसे शिरोमणि, पद पा चुका है तब पाठक महाशय स्वयं बतलावें इस जीवन्धर चम्पूको कौनसा पद प्रदान किया जाय ?। अस्तु।

सोमदेवसूरि विरचित यशस्तिलक चम्पू तो संसार भरमें एक ही ग्रन्थ है। इसके महत्त्वको किसी भी अजैन काव्यने नहीं पाया है। इसकी कौनसे गद्यका तथा किस पद्यका उदाहरण पाठकोंको दृष्टिपथ करावें, सम्पूर्ण ग्रन्थ ही संस्कृत काव्योंके लिये अनुपम नमूना है। सभी रस, सभी अलंकार तथा सभी गुण और सभी रीतियां, पाक एवञ्च महाकाव्योंके वर्णनीय सभी विषय इस चम्पूमें सुन्दर शैलीसे वर्णित हैं। अधिक प्रशंसा वृथा बकवादमें परिगणित हो जायगी एतएव इतना ही बहुत होगा कि इसकी शानका महत्वशाली ग्रन्थ अजैन काव्योंमे कोई भी नहीं है। इन्हीं कवि सम्राट्‌ने 'नीति वाक्यामृत, नामक नीतिग्रंथ बनाया है जिसके समान नीतिका अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। यशस्तिलक चम्पूके सदृश एक 'पुरुदेवचम्पू, भी है यह भी अनुपम ग्रंथ है। अस्तु।

गद्य ग्रन्थोंका शिरोमणि "गद्य चिन्तामणि" नामक जैनकाव्य है। इसके रचयिता वादीभसिंह आचार्य हैं। यह कहनेमें कोई संकोच न होगा कि कादम्बरीका गद्य इस काव्यके ग्रन्थसे अनेक स्थलोंमें टकराता है। रचनाशैली अनुपम कालित्यसे परिपूर्ण है। जैनकाव्योंमें सबसे महत्वका विषय है यह है कि प्रथम शृङ्गार, वीर आदि रसोंका पूर्ण सुन्दर चित्र खींचकर संसारका सौन्दर्य बतलाते हैं किन्तु अन्तिम भागमें वास्तविक सुखशान्तिदायक वैराग्य रसका प्रवाह बहा देते हैं। आत्मीय भावोंका वह सुन्दर वर्णन करते हैं कि पढ़ने-वाला मनुष्य पुण्य पापको समझकर अपने जीवनपर उत्तम असर डाल लेता है। वास्तवमें काव्य रचनाका उद्देश भी यही है। कवियोंने काव्यके लक्षणोंमें यहां तक लिखा है कि "**चतुर्वर्गफलप्राप्तिः काव्यादेव प्रवर्तते**" किन्तु अजैनकाव्योंसे मनुष्यको धर्म तथा मोक्षवर्ग तो मिल ही नहीं सक्ता है। उनके लिये "कामवर्गफलप्राप्तिः काव्यादेव प्रवर्तते" यह लक्षण बनाना पड़ेगा। श्रीहर्ष, माघ, भारवि आदि उद्भट कवियोंने पारमार्थिक विषय अपनी कवितामें कहीं नहीं रक्खा है। जिन कालिदास कविके कवित्वपर अजैन जनता अभिमान रखती है उनके बनाये हुए ग्रन्थ प्रायः शृंगार रसमें डूबे हुए हैं। अतएव इतने अश्लील हो गये हैं कि पढ़ने योग्य नहीं हैं। अल्पवयस्क बालकोंको तो

श्रुतबोध, मेघदूत आदि कालीदासीय काव्यग्रन्थ दिखाने भी नहीं चाहिये। ऐसी समालोचना सरस्वती सरीखे पत्रमें प्रकाशित हो चुकी है। अस्तु।

जैन पुराण ग्रंथोंकी रचना अनुपम सौन्दर्यशाली है, इन पुराणोंमें अजैन पुराणोंके समान आकाश पातालके कुलावे मिलाकर असंभव वर्णन नहीं किया है किंतु यथार्थ, परम उपयोगी सिद्धांत, इतिहास, गान आदि कलाएं अच्छे ढंगसे बतलाई हैं। दृष्टांत देनेमें समय संकोचके अनुसार असमर्थ हैं। अस्तु। अंतमें जैन साहित्यके गौरवशाली दो तीन पद्य देता हूं। ये श्लोक जिनेन्द्रभूषण भट्टारकने काशीमें अजैन विद्वानोंके सन्मुख कहे थे, किंतु दो मासमें भी किसी विद्वानसे इनका अर्थ नहीं लगा था।

"तातां ताती ततेतां ततति तती तता ताति ताती ततत्ता।
तात्तातीतां तताती ततिततितितता तत्ततत्ते तितंति॥
तातातीतः तिताती ततनु तातितता तातितातू तितत्ते।
तांतेतितो तुतात्ता ततुतति तुत्ततितांततुतोक्त॥

इन दो श्लोकोंका अर्थ अभीतक किसी भी विद्वान्से नहीं लगा है, ढाईसौ रुपये पारतोषिक रक्खा था अतएव अनेक महामहोपध्याय तथा साहित्याचार्योंने शिरसे पैर तक पसीना भी बहाया किन्तु सभी निष्फल हुआ। इन दोनों श्लोकोंका अर्थ जैन सिद्धान्तभवन आरामें लिखा हुआ विद्यमान है।

चित्रालंकारका एक और भी पद्य विद्यमान है—

कारवगघङचछौ जो झञटाठडढणतु।
थाद धन्य पफ बभा मा या रालाव शषस।

इस श्लोकका अर्थ भी किसी विद्वान्से नहीं हो सका है। यह जैन कवितामें ही महत्व है कि जिसका गूढ अर्थ बड़े बड़े साहित्यज्ञ विद्वान् वर्षों तक पूर्ण प्रयत्न करने पर भी नहीं लगा सके हैं।

स्वामी समन्तभद्राचार्यकी जिस प्रकार न्यायविषयक रचना असाधारण है तथैव कविता भं उनकी असाधारण पाण्डित्यपूर्ण वैसे तो स्वयम्भूस्तोत्र आदि प्रौढ कविता विद्यमान हैं किन्तु एक जिनशतक नामक काव्य है जिसमें चित्रालंकार तथा यमकालंकार ही अलंकृत है। अस्तु।

जैन काव्योंका अन्य काव्योंसे बहुत अधिक महत्त्व है। इसका पूर्ण यथार्थ प्रदर्शन करानेके लिये सर्वथा असमर्थ हैं। यह समालोचना तो मुद्रित हुए इनेगिने काव्य ग्रन्थोंकी है। जैन ग्रंथभंडारमें विद्यमान अप्रकाशित ग्रंथ कैसे महत्वशाली हैं इसको सर्वज्ञके

सिवाय अन्य व्यक्ति क्या समझ सक्ता है ? । इसके अतिरिक्त दुष्टों द्वारा नष्ट हुए काव्य किस सुन्दरतासे सुन्दर थे यह भी हम नहीं जानसके हैं । किन्तु अवशिष्ट अल्प संख्या-शाली ग्रंथ अनुपम तथा असाधारण हैं । इसका यथाशक्ति दिग्दर्शन करा दिया है जिससे अजैन विद्वानोंका तथा जैन विज्ञोंका भी मानसिक भ्रम निकल जावे । अस्तु ।

जैनकाव्यके अमृतमयी अपारवारापारकी तीर-भूमिको लेखनी शक्तिभर प्रयत्न करनेपर भी न पा सकी । अतएव आनंददायिनी तरङ्गधारामें ही लीन होगई ।

अजितकुमार शास्त्री ।